॥ श्री ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१२३

भारतीय दर्शन मे चेतना का स्वरूप

लेखक

डॉ० श्रीकृष्ण सक्सेना

एम० ए० पी एच० डी० (लन्दन)

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६९

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
123

BHĀRATĪYA DARS'ANA MEŇ CETANĀ KĀ SVARŪPA

(Nature of Consciousness in Indian Philosophy)

By
Dr S K SAKSENA
M A. (Alld.) PH D (Lond)

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1969

First Edition
1969
Price Rs 10-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers & Oriental Book-Sellers
P O Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)
Phone 3145

प्रकाशकीय वक्तव्य

पिछले डेढ़ दो सौ वर्षों का इतिहास केवल राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं अपितु बौद्धिक क्षेत्र में भी परतन्त्रता का इतिहास रहा है। विद्या के क्षेत्र में यह परतन्त्रता इतनी दूर पहुँच गई थी कि हमें अपने दर्शन, इतिहास और धर्म आदि का अध्ययन भी विदेशी भाषा के माध्यम से करना पड़ा। बाध्य होकर भारतीय विद्वान भी अंग्रेजी में ही लिखते रहे और भारतीय विद्यार्थी भी कुछ समझते हुए, कुछ न समझते हुए उसी का कण्ठस्थ करते रहे। इसी से न तो हमारी देशीय भाषाओं की समृद्धि ही हो पाई और न भारतीय विद्या का यथोचित प्रसार ही हुआ। किन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से वातावरण में कुछ परिवर्तन हुआ है। सम्प्रति भारतीय विद्वान अपने विचारों को अपनी ही भाषा में व्यक्त करना चाहते हैं और भारतीय विद्यार्थी भी अपनी ही भाषा में विभिन्न विषयों का आहरण करना चाहते हैं, किन्तु इस महनीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए अत्यधिक श्रम की आवश्यकता है। सर्वाधिक महत्त्व का कार्य तो यही है कि ज्ञान विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में लिखे गए अंग्रेजी ग्रन्थों का अपनी भाषा में रूपान्तर किया जाय। उक्त उद्देश्य को ध्यान में रखती हुई यह संस्था "विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला" में बहुत से महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित कर चुकी है। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उसी प्रयास का एक उदाहरण है।

प्रो० डॉ० सक्सेना की *Nature of Conciousness in Hindu Philosophy* नामक अंग्रेजी पुस्तक भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुरागियों में विशेष प्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी है। वस्तुतः स्थावरजंगमात्मक इस विश्व में चेतना का अस्तित्व, उसका स्वरूप तथा भिन्न-भिन्न प्रकार, दार्शनिक और वैज्ञानिक दोनों के ही सामने बहुत सी समस्याएँ रखते हैं और

दार्शनिक चिन्ता के प्रारम्भिक युग से इन समस्याओं को हल करने के लिए हमारे सभी दार्शनिकों ने सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार उपन्यस्त किये हैं। प्रा० डॉ० सक्सेना ने अपने शोध ग्रन्थ में बड़े ही सुन्दर और व्यवस्थित ढंग से उसी विचार परम्परा का विवेचन प्रस्तुत किया है।

उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्राञ्जल हिन्दी में अनुवाद अपने पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है और आशा है कि भारतीय दर्शन शास्त्र के अनुरागी वृन्द इस ग्रन्थ का समुचित समादर करेंगे।

विषयसूची

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

ब्रह्माण्ड में मानव का स्थान

उस क्षण से ही, जब मानव ने स्वयं अपने अस्तित्व पर विमर्श प्रारम्भ किया, उसकी चेतना या जगत् और उसके बोध ज्ञान के संबंध का तथ्य उसके ध्यान को सतत् आकर्षित करता रहा है। उसने अनुभव किया कि उसमें, उन सबसे जो उसके चारो ओर हैं, कुछ अधिक है। अनिवार्यत वह पत्थर वनस्पति तथा पशु से भिन्न है, या कुछ बातों मे वह उनसे कितना ही समान क्यों न दीखता हो। इस प्रकार ब्रह्माण्ड में अकेले मानव को ही ज्ञानवान् होने की महत्ता प्राप्त थी और वह अकेला ही ब्रह्माण्ड के रहस्य को, जिसमें वह स्वयं भी सम्मिलित था, टकटकी बाँधकर देख सकता था और उस पर आश्चर्य प्रकट कर सकता था। उसके सचेतन होने का तथ्य एक विशेषता थी। इस विशेषता ने मनुष्य को तुरन्त उसके विश्व से बहुत ऊपर प्रतिष्ठित कर दिया—विश्व, जो एक समग्र और महान् दिक्कालहीन सृजन की प्रक्रिया था और जिससे वह स्वयं भी उत्पन्न हुआ था। विश्व की इस सृजन प्रक्रिया के अन्तर्गत होते हुए भी वह अपने विचार के उपकरण द्वारा एक क्षण को सृष्टि से अलग खड़ा हो सकता था और यह जानने की चेष्टा कर सकता था कि सृष्टि आखिर किस लिए है। अचेतन जगत् यह नही कर सकता और न वह यही जान सकता है कि अपने लम्बे इतिहास के दौर में, वह संयोगवशात् मानव मे विचार और चेतना की एक अपूर्व घटना को विकसित कर सका है। एक अर्थ में, उसने अपना एक 'अन्य'—अपना प्रतिद्वन्दी विकसित कर लिया था, जो कि पीछे घूमकर देख सकता था विमर्श कर सकता था और अपने ही स्रष्टा का आलोचक हो सकता था। मानव, इस अर्थ में ब्रह्माण्ड से महत्तर था। किंतु यह चित्र का केवल एक ही पहलू है, क्योंकि चेतना एक दुधारी तलवार है। मानव को अपनी चेतना के परमाधिकार के लिए एक बड़ा मूल्य भी चुकाना पड़ा है। बौद्धिक उपलब्धि की प्रक्रिया में उसे कुछ खोना भी पड़ा है। विचार-शक्ति स

विभूषित होने के कारण, उसने आशा की थी कि वह जगत् और जीवन के रहस्य तथा भ्रम का उद्घाटन करने में सफल हो सकेगा; किन्तु शीघ्र ही उसे सदेह हो चला कि अन्ततः कहीं उसकी बुद्धि मात्र उसके उपहास के लिए ही तो उसे प्रदत्त नहीं की गई है। स्थिति-बोध और चिन्तन-क्षमता वहाँ भी प्रश्न खड़े कर देती है जहाँ पहले किसी प्रश्न का अस्तित्व नहीं होता और जिज्ञासा बहुधा अपने ही प्रश्नों की प्रतिध्वनि सुनने के लिए प्रश्न खड़े कर देती है। प्रकृति सदव ही मनुष्य की 'कहाँ' की पुकार का 'यहाँ' कहकर उत्तर नहीं देती, और वस्तुओं के सम्बन्ध में 'कैसे' और 'कहाँ' सम्बन्धी प्रश्न एक सर्वाच्छादिक मौन की धुंधली दूरी में विलीन हो जाते हैं। बिल्कुल प्रारम्भिक हिन्दू साहित्य में हम पढ़ते हैं कि सत्य का मुख आवृत है—'सत्य स्यापिहितम् मुखम्,'—और यही कारण है कि मानव, इस सर्वाच्छादक तम को ऐसे विविध नामों के अन्तर्गत, जो घने और भारी आवरण का निर्देश करते हैं कभी वरुण, कभी अग्नि, कभी केवल माया और कभी तम या यम के रूप में प्रार्थना करता रहा है। जिज्ञासु होने की योग्यता सदैव ही वरदान नहीं होती, और मानव इस दुःखद सत्य का अनुभव कर चुका है। मानवीय गवेषणा के इतिहास में गत्यावरोध का आवर्तन इसका पर्याप्त प्रमाण है। मानव मन के शाश्वत प्रश्नों के इतिहास से कोई भी व्यक्ति इस साहसिक भाव में अब तक प्राप्त तुच्छ सफलता के प्रति असन्तोष के प्रभाव का प्रमाण सरलता से दे सकता है।

इस तथ्य के अतिरिक्त कि मानव ने चेतना के वरदान का उपयोग अपेक्षाकृत निरर्थक कार्यों में किया है, उसने भावनात्मक अस्तित्व की शांति और आनन्द को भी खो दिया है। उसने बहुधा अपने से निम्नतर सहजीवी प्राणियों के जीवन और आनन्द से ईर्ष्या की है। वनस्पति जगत् के विकास की स्वच्छन्दता और चमक तथा मूलप्रवृत्त्यात्मक पशु जीवन के पूर्ण संयोजन ने, जो विश्व के जन्म और विकास विषयक जिज्ञासा से शून्य है, मानव को अपने विचार के अधिकरण की महत्ता और उपयोगिता पर संदेह करने की दिशा में भी अग्रसर किया है। किन्तु सत्य चाहे जो भी हो और ज्ञान जीवन के लिए वाञ्छनीय हो या न हो किन्तु यह मानव जीवन का, एक अविच्छेद्य तथ्य है। शुभ के लिए या अशुभ के लिए हम उससे विलग नहीं हो सकते इस कारण उसके स्वरूप की गवेषणा और उसके सम्बन्ध में जितना भी सम्भव हो सके जानने का यत्न सदव ही सार्थक है।

चेतना शब्द का प्रयोग यहाँ अचेतना के विपरीत अर्थ में किया गया है, जिसमें किसी बोधात्मक क्रिया के अन्तर्गत विषयी और विषय के पारस्परिक

सम्बन्ध का ज्ञान निहित है।[१] क्योंकि कोई भी, कभी भी अनुभवमूलक रूप से स्वयं अपने स्व के अहप्रत्यय के प्रति भी चेतन हुए बिना चेतन नहीं होता है। चिन्तनशील स्व भावना चेतना के जगत् को अचेतना के जगत् से तीक्ष्णता के साथ पृथक् कर देती है। यह चेतना प्रदेश के एक व्यतिरेकी लक्षण के रूप में, अचेतना के प्रदेश मे पूर्णतया अनुपस्थित है। फूलों की क्यारी के एक फूल को या कंकड़ों के समूह के एक कंकड़ को अपने समीपी अन्य फूल या कंकड़ का बोध नहीं होता, न वह अपने पड़ोसी के साथ किसी ज्ञानात्मक सम्बन्ध में प्रकट ही होता है। किन्तु यदि हम कल्पना करें कि एक को दूसरे का ज्ञान है[१] तब वह उसी क्षण दूसरे की उपस्थिति म, जो कि उस क्षण या उसके बोध का विषय है, विषयी की स्थिति प्राप्त कर लेता है। और तब यदि दूसरा भी अपनी बारी मे विषयी है तो फूलों का अचेतन समूह अन्तर्विषयी सम्बन्धोंवाले सम विषयी या आत्मनिष्ठ समाज म परिणत हो जाता है। अचेतन अन्तर्विषय में अस्तित्व जसा वस्तु जगत् में कुछ नहीं, और यदि कोई अस्तित्व है भी तो वह केवल समचेतन विषयी की चेतना में है। चेतना या 'संवित्' इस कारण, विषयी होने की क्षमता है और उसमें ग्राह्य तथा ग्राहक के बीच ग्रहणात्मक या ज्ञानात्मक सम्बन्ध की उपस्थिति का अन्तर्भाव है। यह ज्ञान या बोध का प्रविशिष्ट प्रकाश है जो ज्ञान की क्रिया मे विषयी, विषय और स्वयं को भी व्यक्त करता है। कभी-कभी यह भी कहा जाता है कि मृत द्रव्य या भूत पुद्गल से जीवन विकसित हुआ है, परन्तु इसे केवल द्रव्य' की धारणा मात्र द्वारा ही समझाया जा सकता है। इसी प्रकार, एक अचेतन किन्तु जीवित सत्ता से हम ज्ञान, मनन और चेतना को विकसित होते देखते हैं, किन्तु यह भी यथार्थ का एक पूर्णत नवीन रूपांतर है जिससे हमारे विश्व के रहस्यों में एक अद्वितीय वृद्धि हुई है। हम पूछते हैं कि चेतना क्या है और पाते हैं कि इस नई यथार्थता की व्याख्या म, विशुद्ध रूप से यान्त्रिक तथा प्राणभौतिक दृष्टिबिन्दुओं से दिये गये उत्तर असफल हो जाते हैं, क्योंकि चेतना किसी भी वस्तु से इतनी भिन्न वस्तु का निर्देश करती है कि उसे स्वयं किसी पद से समझाने का प्रयत्न असम्भव ही प्रतीत होता है।

इस सामान्य स्वीकृति का साक्ष्य कि चेतना हमारी अधिकतम बौद्धिक विचारणा की अधिकारी है उन प्रसिद्ध वैज्ञानिकों की भी इस क्षेत्र में बढ़ती रुचि म उपलब्ध है जो कि अभी तक केवल दार्शनिक विचारणा का ही दावा करते थ। इसके बाद भी कि उनके दृष्टिबिन्दुओं या खोज की निष्पत्तियां

१ अहमिति दाम्स्य व्यतिरेकात्। बा० सू० ३ २ ६

में विभिन्नता है, चेतना तत्वमीमांसक और मानसशास्त्री की ही बपौती नहीं रही है बल्कि भौतिकशास्त्री और जीव वैज्ञानिकों की खोजों का क्षेत्र भी इस सरल से कारण का कारण बन गई है कि यह प्रथम दृष्टया अत्यन्त प्रत्यक्ष और निकटतम यथार्थ है जिसका उसे अत्यन्त प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जाता है जिसने कभी भी अपने अन्तर में झाँका है। अन्य शब्दों में यह एक अपराजेय तथ्य है, और हमारी विभिन्न रुचियों के समग्र विषयों के संबंध में हमारे सम्पूर्ण विचारों का उद्‌गम स्रोत है। वे समग्र विषय जिन पर विविध अ-दार्शनिक विज्ञान विचार करते हैं, ऐसे विषय हैं जो प्रधानतया वैज्ञानिक की चेतना में होते हैं।

हिन्दू दर्शन में चेतना की समस्या के व्यवस्थित अध्ययन की आवश्यकता-

भारत के सबल और साहसी विचार प्रयत्न की सुविस्तृत धारा पर, जो कि उपनिषद् काल से ईसा की १७ वीं शताब्दी के अन्त तक प्रवाहित होती है, एक संक्षिप्त दृष्टि भी भारतीय दर्शन के किसी भी अध्येता को आश्वस्त करा देगी कि भारतीय विचारकों ने बाद के कुछ विचारकों के पतन, जैसे कि विविध दर्शन सम्प्रदायों के मल्ल-युद्ध, या विरोधी मतों या दर्शन सम्प्रदायों पर केवल प्रधानता प्राप्त करने के उत्साह के बावजूद भी प्रायः उन सारी दार्शनिक धारणाओं को छानकर भूसी से पृथक कर लिया है जिन्हें कि वे विकसित कर सकते थे। वे पर्याप्त साहसी थे और वे अपनी विचारधारा को उसके दूरतम तार्किक निष्कर्षों तक ले जा सकते थे। ज्ञान और कर्म के समग्र सम्भवनीय क्षेत्रों से सम्बन्धित समस्याओं पर जैसे—तत्वमीमांसा मनोविज्ञान, न्याय, ज्ञानमीमांसा आचार और विधिशास्त्र ध्वनि और योगशास्त्र जादू और चिकित्सा विज्ञान, सभी पर उन्होंने विवेचन किया है किन्तु आधुनिक नियम बद्धता और व्यवस्थित पृथकत्व के अभाव में उनके सिद्धांत और परिकल्पना पौधों की एक विशाल उलझन में एक दूसरे से गुथे हुए पड़े हैं। यह वैभवशाली पौधाघर अनेक छोटे-छोटे मूल्यवान् उपवनों का स्रोत हो सकता था, किन्तु हो नहीं सका क्योंकि भारतीय दर्शन-सम्प्रदायों के इस विशाल वन में अनेक घने पौधे वर्जित स्थानों में अत्यधिक विकसित हो गये हैं। जब कि यहाँ-वहाँ बहुत सा घास-पात फैला हुआ है कुछ का अतिबढ़ाव से भी पीड़ित हैं, इन पौधों के विस्तृत क्षेत्र में पुनरारोपण की आवश्यकता है, ताकि वे अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य में फल-फूल सकें और अपनी सुगन्ध उस जगत् को दे सकें जिसे कि उसकी बहुत आवश्यकता है।

उन सारी समस्याओं मे जो मानवीय हृदय की निकटतम समस्याएँ हैं, उसके स्वय के अस्तित्व और स्वरूप की समस्या भी निश्चय ही एक रही है। यह कहना एक सामान्य बात रही है कि प्रत्येक वस्तु कम से कम उस सीमा तक जहाँ तक वह मनुष्य से सम्बन्धित है वही है जो वह है, कारण, मनुष्य वही है जो वह है, अर्थात् वह एक सचेतन और ज्ञानात्मक प्राणी है। यदि मानवीय चेतना से बाह्य कुछ है भी तो उसका 'होना' उस सीमा तक जहाँ तक वह मानवीय चेतना से किसी भी प्रकार सम्बद्ध नहीं है, मानव के सम्बन्ध की दृष्टि में 'न होने' के ही बराबर है। इस प्रकार, मानव जीवन की सम्पूर्ण समस्याएँ इस अर्थ में, उनके प्रति उसकी चेतना की समस्याएँ हैं। अत चेतना के रहस्यो के उद्घाटन के लिए हिन्दू खोजियों द्वारा इतना विचार और शक्ति का व्यय किया जाना सरलतया समझाया जा सकता है। चेतना पर विचारणा के उनके प्रयास में हमें प्राय विचार की सारी विविधताएं और छायाएँ, जो चेतना के सम्पूर्ण निषेध से प्रारम्भ होकर चेतना को ही समस्त यथार्थ का मूलाधार और केन्द्र बनाने पर समाप्त होती हैं, देखने को मिलती हैं। सम्पूर्ण निषेध और आधारभूत विधेय की इन दो सीमाओं के मध्य, हम माध्यमिक स्थितियों और दृष्टिबिन्दुओं की विविधता भी प्राप्त होती है। उपनिषदों के ऋषियों तथा गौतम कपिल और बादरायण से लेकर शंकर, रामानुज, श्रीधर और जयन्त तक, विचारकों ने चेतना की समस्याओं पर इतने विरोधी उत्तर प्रस्तुत किये हैं कि उनमें से कठिनाई से ही कोई ऐसा उत्तर है जो कि उसके विरुद्ध उत्तर के तुल्य ही प्रख्यात नहीं है या उनके द्वारा प्रस्तुत समाधानों में एक भी समाधान इतना असतोषजनक नही है कि अपनी बारी में एक नयी समस्या को जन्म नहीं दे सकता है। डा० एस० राधाकृष्णन तथा अन्य प्रसिद्ध विद्वानो द्वारा इस क्षेत्र में अत्यन्त मूल्यवान् तथा नेतृत्व प्रदान करनेवाला कार्य किया जा चुका है। अब आवश्यकता इस बात की है कि आधुनिक तत्वमीमांसा की भाषा में इस तरह की अकेली समस्याओं, जैसे चेतना का स्वरूप तथा अन्यो पर, विशिष्ट अध्ययन इस दृष्टि से किया जाय कि उनके सम्भाव्य समाधान की ओर हिन्दू योगदान पर पुनर्विचार हो सके तथा उसे पुन विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया जा सके।

अनुसन्धान की विधि

विगत अर्ध शताब्दी मे विभिन्न संस्कृतियों से हमारे बौद्धिक सम्पर्कों द्वारा विभिन्न जातियों के विवेक तथा दर्शन के ज्ञान का हमारा क्षितिज

अत्यधिक विस्तृत हो गया है। आज हम इजिप्ट, पर्शिया, चीन और भारत की विशिष्ट बुद्धिमत्ता और ज्ञान के सम्बन्ध में तुलनात्मक रूप से कहीं अधिक जानते हैं। सदैव की भाँति सांस्कृतिक संपर्क का यह नया युग अपने साथ चौकसी से अधिक उत्साह और शुद्धता से अधिक सहानुभूति लाया जिसकी अधिक अभिव्यंजना उन तुलनात्मक अध्ययनों में हुई, जिनमें कि विचारों की सतही समानताओं को, जो कि काल, स्थान तथा परिस्थितियों की दृष्टि से एक दूसरे से अत्यन्त दूर थीं, इस तरह प्रस्तुत किया गया कि जैसे उनमें स्वरूपत तादात्म्य है। तुलनात्मक अध्ययनों में पुरातन और असमान की व्याख्या नूतन और परिचित विचारों से, मूल और अपरिचित के प्रति बिना किसी दृढ़ अवलम्बन के करना विद्वानों की आकांक्षा रही है। इस तरह, भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन की प्रारंभिक अवस्थाओं में भारतीय वेदान्त के अद्वैतवादी दर्शन, जिसके अन्तर्गत विविधतायें हैं और पश्चिम के हीगेलवादी प्रत्ययवाद की, दोनों में से किसी के भी पृथक् व्यक्तित्व को सुरक्षित रक्खे बिना किसी प्रकार के समान और तादात्म्य बताना पंडितों का प्रिय विषय था।[1] कणाद के वैशेषिक सूत्रों में सम्पूर्ण आधुनिक भौतिक विज्ञान की खोज निकालने का प्रयत्न किया जाता है, और पतंजलि के सूत्रों को या तो आधुनिक मानस आरोग्यविज्ञान का उपयोगी का अध्ययन क्रम, या सांसारिक वैभव और शक्ति की भोगार्थक तात्विक शक्तियों पर प्रभुत्व पाने के लिए गुप्त विज्ञान पर लिखा हुआ ग्रन्थ समझा जाता है। उपनिषदों में बुद्धि की सीमितता के सम्बन्ध में व्यक्त विचारों का बर्गसाँ की मूल प्रवृत्ति की ओर पुनरावर्तन तथा बुद्धि पर सम्पूर्ण अविश्वास से एक बताया जाता है। न्याय और आधुनिक तर्कशास्त्र के साथ भी यही किया गया है, जिनमें परार्थानुमानों आदि की समानताओं को समस्याओं के निर्धारण में उनकी विशिष्ट वैयक्तिकताओं को वर्जित करके चुन लिया जाता है।

उपरोक्त का यह अभिप्राय नहीं है कि किन्हीं दो संस्कृतियों के वैभवशाली दर्शनों में मूल तथा शाश्वत प्रश्नों और मानव मस्तिष्क पर उनकी प्रतिक्रियाओं तथा उनकी अभिव्यक्तियों में किसी प्रकार की एकरूपता नहीं है। ऐसा करने का अर्थ, मानव बुद्धि की एकता और विषयकता की आधार मूल कल्पना के साथ हिंसा तथा एक सार्वभौम तत्वमीमांसा की नितांत असम्भावना में विश्वास प्रकट करना होगा। इसके विपरीत संयम और

---

[1] द्रष्टव्य, वेन्नाड प्लेटो और कांट पर हर्षेल का प्रबन्ध।

परिस्थितियों में एक दूसरे से अत्यन्त दूर, जैसे विलियम जेम्स और बुद्ध, ह्यूम की तरह के आधुनिक सदेहवादी और प्राचीन माध्यमिक दार्शनिक नागार्जुन या धर्मकीर्ति, आज का विषयीगत प्रत्ययवादी और अतीत के योगाचार प्रत्ययवादी आदि के विचारों में हमे सुन्दर समानान्तरता के अद्भुत उदाहरण देखने को मिलते हैं। किसी प्राचीन हिन्दू या बौद्ध ग्रन्थ को देखते समय इस तरह की समस्याओं पर दृष्टि प्राय चली जाती है जिन्हें कि इस तरह की प्रणाली में विवेचित तथा प्रस्तुत किया गया है कि उनमें तथा किसी ति आधुनिक ग्रन्थ की विवेचन विधि में भेद करना सम्भव नही रह जाता है।

किन्तु किसी भी तुलना के पूर्व, किन्हीं भी दो विभिन्न दर्शनों का उनके विशिष्ट प्रवृत्तियों में यथोपात्त ज्ञान अत्यन्त महत्वपूर्ण है अन्यथा, इन्ही समानताओं पर आधारित तुलनात्मक अध्ययन का दोनो के रूप को भ्रष्ट करने के लिए पतित हो जाने का सहज ही खतरा है। कारण यह है कि किसी विशिष्ट संस्कृति का प्रत्येक दर्शन स्वय अपनी आत्मा लिए हुए है। उसकी अपनी व्यक्तिगत मेधा है जो किसी समस्या का अपनी विशेष रीति से सृजन करती तथा प्रतिक्रियान्वित होती है। किसी भी दर्शन की वैयक्तिकता के इस तथ्य की, उस दर्शन के विशिष्ट गुणों को मटियामेट किये बिना, हम उपेक्षा नहीं कर सकते।

इस कारण बाद की सम्भाव्य सश्लेषण की अवस्था के लिए, प्रारम्भिक चरण के रूप में, किसी संस्कृति की प्रत्येक प्रतिनिधि विचारधारा अपूर्व और विभेदक चारित्रिक गुणों की इसके पूर्व कि उनकी ओर पुन पहुँचने का प्रयत्न किया जाय खोज निकालने का प्रयास अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए वैयक्तिक अध्ययन और भेद निरूपण की प्रणाली, जो कि तुलनात्मक अध्ययन की ओर एक नई पहुँच का प्रस्तुत करती है, विभिन्न दर्शनों के ज्ञान की हमारी वर्तमान अवस्था में, छिछली और असावधानीपूर्ण सादृश्यताओं की प्रणाली से कहीं अधिक उपयुक्त है।[१]

मैंने, इसलिए, चेतना के प्रति हिन्दू ग्रन्थों में बिखरे हिन्दू दृष्टिकोण का उसके वैयक्तिक तथा विभेदक लक्षणों में आधुनिक या पाश्चात्य दृष्टिकोण की तरह प्रस्तुत करने का प्रयास किये बिना एक स्वतन्त्र और आलोचनात्मक अध्ययन किया है। वाद विवाद सवाद के हिन्दू विधिशास्त्रीय रूप को विभिन्न प्रश्नों के सूत्रीकरण में, जहाँ तक व्यावहारिक हो सका है सुरक्षित रखने का प्रयत्न भी किया गया है। चेतना के स्वरूप से सम्बद्ध कुछ आधार

१ द्रष्टव्य बी० हेमन इण्डियन एण्ड वेस्टर्न फिलासफी।

मूल प्रश्नों को भी, जो न हिन्दू हैं न प्राचीन, उनकी मूल पृष्ठभूमि में ही विवेचित किया गया है। इस अवस्था में, तुलनाओं से जान बूझकर ही बचा गया है ताकि वे भारतीय ज्ञानमीमांसावाद की अपरिचित पृष्ठभूमि में, पहले से ही जटिल समस्याओं को अनावश्यक रूप से और भी जटिल रूप प्रदान न कर दें। इस तरह, चेतना के समग्रतया तथा स्वरूपतः हिन्दू दृष्टिकोण के चित्र को उन चारित्रिक लक्षणों के साथ जो उसे अपने पाश्चात्य चित्र से स्पष्ट रूप से भिन्न बनाते हैं प्रस्तुत करना मेरा लक्ष्य रहा है।[1]

चेतना की समस्या क्या है? इस तरह की कोई समस्या है भी, या नहीं? इस तरह के तथा अन्य प्रश्नों का पूछा जाना अब आवश्यक है। चेतना की समस्या और स्वरूप को समझाने के लिए ज्ञान के हमारे दैनिक अनुभव के विश्लेषण से प्रारम्भ करना श्रेयस्कर है। यदि हम विमर्श करें तो चेतना का तथ्य कुछ ऐसे खंडांशों से निर्मित प्रतीत होगा जो जहाँ कहीं भी ज्ञान या चेतना की अभिव्यक्ति होती है उसमें अटल रूप से भाग लेते हैं। ये खंडांश निम्न हैं —

१ हमारे बाह्य इन्द्रिय उपकरण अर्थात् इन्द्रियाँ, २ बाह्य जगत् के पदार्थ अर्थात् विषय, ३ अन्तरिन्द्रिय या मानस जो कि ज्ञाता और बाह्य इन्द्रियों के मध्य सम्बन्ध जोड़ने वाला है, और अन्ततः ४ कर्ता या ज्ञाता आत्मा जो स्वयं को ज्ञाता की तरह मानता है और जिससे हमारे ज्ञान का सम्पूर्ण प्रवाह, जो हमारे मानसिक जीवन का संधान करता है, सम्बद्ध होता है तथा जिसमें मूल भित्ति या परमाधार की तरह सम्पूर्ण ज्ञान सन्निहित होता है।

हमारे दैनिक ज्ञानानुभव में अन्तर्भावित खंडांशों का उपरोक्त वर्णन केवल सामान्य ज्ञान पर आधारित वर्णन है। थोड़ी सी और विचारणा से स्पष्ट होगा कि कर्ता या 'मैं' को अन्तर्निरीक्षण की क्रिया में आगे और भी दो स्तरों में विभक्त किया जा सकता है। यह वक्तव्य कि 'मैं स्वयं को जानता हूँ' दो ज्ञाताओं का सुझाव देता है—ज्ञाता ज्ञेय की तरह और ज्ञाता ज्ञाता की तरह। विभक्तिकरण की इस प्रक्रिया को अनन्तता तक जारी रखा जा सकता है। कोई इस कारण, एक ज्ञाता के स्थान पर दो ज्ञाताओं को रख सकता है—एक अनुभव निर्भर *या मनोवैज्ञानिक* आत्मा, जो विकल्पात्मक रूप से ज्ञान का विषयी और विषय दोनों बन जाता है, तथा दूसरा, अनुभवातीत विषयी जो ज्ञान की किसी भी क्रिया में कभी भी ज्ञेय की तरह नहीं पकड़ा जाता, किन्तु जो हमारे सम्पूर्ण ज्ञान व्यापार के पीछे

१ इस सम्बन्ध में उदाहरण अन्तिम अध्याय में मिलेंगे।

परम ज्ञाता और विषयी की तरह सदव ही अवस्थित रहता है। हम देख चुके हैं कि चेतना मे विषयी और विषय का द्वैत सान्निहित होता है। तब इस प्रश्न का उद्भव स्वत ही हो जाता है कि क्या द्वैतता हमारी चेतना का स्थायी लक्षण है ? क्या यह सब चेतना का, उसकी सम्पूर्ण स्थितियों में, उसके मूल स्वरूप में सान्निहित परम सिद्धान्त है, या कि किसी अवस्था मे कहीं इसका अन्त भी है, जहाँ विषयी या अद्वैत चेतना केवल अपने स्वभाव या स्वरूप म, बिना किसी अन्य ऐसे विषय के जो उसे विशेषित या उसके स्वभाव को सीमित करता हो प्रकाशित होती है ? साराश यह कि क्या अद्वैत, अपरोक्ष और अविभेदी चेतना का कोई अस्तित्व है जो कि सार्वभौम और अपरिवर्तनशील हो या कि समग्र चेतना 'यह यह है, के रूप में सदव विभेद-युक्त, परिवर्तनशील और सविशेष ही होती है ? चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में, यह प्रश्न आधारभूत प्रश्नो मे से एक है।

किन्तु सर्वोपरि प्रश्न यह है कि चेतना स्वय अपने मे क्या है ? सवित्, अनुभूति या उपलब्धि अपने आप म क्या है ? क्या वह किसी एक द्रव्य मात्र का गुण है या कि स्वय एक द्रव्य है ? ज्ञान की स्थिति कौन लाता है ? क्या वह विषय, इन्द्रियाँ मानस और आत्मा इन सब पदार्थों का सयोग है या कि वह केवल आत्मा के नित्य और मूलत चित्स्वरूप के कारण है ? केवल पौद्गलिक शरीर चेतना का सिद्धान्त नही हो सकता है, क्योंकि मृत शरीर मे चेतना की उपलब्धि नहीं होती। अचेतन वस्तुओ का कोई सयोग भी चेतना का सृजन नही कर सकता है। चेतना के प्रत्येक अश का भी सचेतन होना उसी तरह आवश्यक है, जिस तरह कि पुद्गल का प्रत्येक अणु पुद्गलात्मक होता है। प्राण भी चेतना का सिद्धान्त नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसे असख्य प्राणी है, जिनमें प्राण का श्वास दौड़ रहा है पर जो ज्ञान या चेतना का कोई भी चिह्न नहीं प्रकट करते। क्या बुद्धि चेतना का कारण है ? यदि ऐसा है तब स्वयं बुद्धि क्या है ? वह स्वय सचेतन वस्तु है या अचेतन ? क्या चेतना उससे उसी प्रकार सम्बन्धित है जैसे ताप अग्नि से, या जैसे पका मृत्तिका घट लाल रग से सम्बन्धित होता है ? या उसी प्रकार मात्र आपातिक रूप से ही सम्बद्ध है ? क्या यह नहीं हो सकता है कि बुद्धि भी केवल शरीर और इन्द्रियों की भाँति, चेतना का एक अधिकरण मात्र है, और उस स्थिति में ज्ञान का गुण उससे सम्बद्ध नहीं है। यह आणविक पुद्गल का एक सूक्ष्माधिकरण मात्र भी हो सकता है, जो कि यद्यपि स्वय मे चेतन नहीं है तथापि मानसिक और चेतन गुणों को, चेतना के प्रतिफलन की अपनी क्षमता के कारण ग्रहण कर लेता है।

पुन, तब क्या आत्मा चेतना है ? क्या इन दोनों आत्मा और चेतना में कोई विभेद ही नहीं है ? या कि चेतना आत्मा का केवल गुण है, उसका स्वभाव या सार नहीं ? क्या यह शाश्वत, असृष्ट, निष्क्रिय और अपरिवर्तनीय है, या कि सृष्ट, परिवर्तनशील गतिमय और रूपान्तरणीय ?

अन्त में, अचेतन क्या है और अचित् के दोनों विपरीत तत्व परस्पर किस रूप में सम्बन्धित हैं ? क्या यथार्थ में ऐसे दो द्रव्यों का अस्तित्व है जिनमें से एक स्थायी रूप से चेतन और दूसरा स्थायी रूप से अचेतन है, या कि केवल एक ही द्रव्य का अस्तित्व है ? चित् या अचित्, जो स्वयं अपने को विपरीत में रूपान्तरित करता है, यदि एक दूसरे से पूर्ण विरुद्ध दो द्रव्यों की ऐसी सत्ता है जिनमें कुछ भी समानता नहीं है तब वे एक दूसरे से सबद्ध ही किस रूप में हो सकते हैं ? यदि केवल एक ही द्रव्य का चेतन या अचेतन का, अस्तित्व है तब एक से दूसरे के उद्भव की कठिनाइयाँ पैदा होती हैं क्योंकि यथार्थानुभव में चित् और अचित् तथा विषयी और विषय दोनों को हम एक ही अशी के अश की तरह पाते हैं। चेतना से सम्बन्धित समस्याओं में से कुछ इसी प्रकार की हैं। हिन्दू विचारकों के गवेषण में प्रभासित समाधान का ही इन पृष्ठों में अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत अध्ययन के क्षेत्र और इसकी सीमाओं के सम्बन्ध में एक स्थल पर, दो शब्दों का जोड़ा जाना आवश्यक प्रतीत होता है। चेतना के स्वरूप की यह प्रस्तुत खोज, चेतना के तत्वमीमांसात्मक स्वरूप तथा चेतना जो स्वयं अपने में है उन लक्षणों की विशुद्ध तात्त्विक विचारणा तक ही सीमित है। इस प्रकार, गवेषणा का विषय-वस्तु चेतना का स्वरूप और अध्ययन का केन्द्र बिन्दु तत्वमीमांसात्मक है। यद्यपि समस्या पर अनेक पहलुओं से विचार किया गया है तथापि चेतना के परम स्वरूप का निश्चय करना ही इस समग्र प्रबन्ध में अध्ययन का ध्येय रहा है। चेतना के स्वरूप के इस अध्ययन को ऐसे संयुक्त प्रश्नों से किसी भी रूप में मिश्रित नहीं किया जाना चाहिए, जो कि यद्यपि उससे सम्बन्धित हैं पर जिनको यहाँ भिन्न और पृथक् ही माना गया है ताकि वर्तमान अध्ययन का क्षेत्र अनावश्यक रूप से विस्तीर्ण होकर अन्तर्भावित प्रश्नों की स्पष्टता का समाप्त न कर दे। उदाहरणार्थ, चेतना की समस्या, ज्ञानमीमांसा के प्रमाण के साधनों के समस्या समस्या तथा सत्य और भ्रांति के सिद्धांतों से, जो कि अपने आप में एक पृथक् समस्या है

श्रौर जिस पर उस रूप मे ही विचार करना श्रावश्यक है, भिन्न है। इसका यह श्रथ कदापि नही है कि चरमत एक दूसरे मे कोई कडा विभेद सभव है, किन्तु यह कि वतमान श्रध्ययन का सम्बन्ध केवल चेतना के स्वरूप मात्र से ही है।

● ●

द्वितीय अध्याय

दर्शन के व्यवस्थात्मक रूप के पूर्व की अर्धदार्शनिक पृष्ठभूमि

प्राग् उपनिषदिक अन्वेषण का जागतिक स्वरूप

चेतना के परम तत्वमीमांसात्मक स्वरूप की हमारी गवेषणा का सम्बन्ध, मानव स्वयं अपने स्व में स्वरूपतः क्या है, इसके अन्तर्निरीक्षणात्मक विमर्श से सम्बद्ध है। मानव अपने आंतरिक तथा विषयीगत अस्तित्व में ही सर्वप्रथम चेतना के प्रति अपरोक्ष और अत्यन्त तात्कालिक रूप से सजग होता है। 'चेतना क्या है' और 'मैं चेतन क्यों हूँ' ऐसे प्रश्नों में चेतन और अचेतन अस्तित्व एवं विशुद्ध पौद्गलिक और विमर्शहीन अस्तित्व तथा मानसिक और विमर्शमय प्रक्रिया में विभेद की पूर्व कल्पना को पहले से ही प्राप्त कर लिया गया है। चेतना विमर्शपूर्व है और विमर्शित होकर जन्म पाने की प्रतीक्षा नहीं करती। विमर्श की अवस्था अनिवार्य रूप के बाद में ही आती है।

मानव मन के स्वभाव की बौद्धिक खोज में, पहले बाह्य जगत् की विजय से ही श्रीगणेश करता है क्योंकि, जैसा कि कठोपनिषद्[1] का कथन है मानव प्रारम्भ करने के हेतु पहले बाहर ही झाँकता है क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ बहिर्मुखी हैं।[1] यह उसके अन्वेषण की द्वितीयावस्था में ही संभव हो पाता है जब कि वह बाहर से अंतर में वापिस लौटता है। इस प्रकार मानव के प्रारंभिक विचार स्वभावतः बहिर्जगत से सम्बद्ध थे। उसकी इन्द्रियाँ बाहर गईं, विनय और आश्चर्य से उसने अपने चारों ओर फिर विस्तार में झाँका और वह ग्रहों और ऋतुओं के रहस्य, तथा वस्तुतः उस प्रत्येक वस्तु के प्रति आश्चर्यान्वित हुआ, जो उससे अधिक शक्तिमान थी और जिसने उसके जीवन को प्रभावित किया था। इस प्रारंभिक अवस्था में उसने कठिनता से ही कभी अपने अन्तर में देखा है और अपनी आत्मा पर आश्चर्य प्रगट किया है। मानव विचारणा के इतिहास में बाह्य और आन्तरिक या भौतिक और मानसिक जगत् की विभेदक रेखाओं का खींचा जाना बहुत बाद में ही सम्भव हुआ है।

---

१ कठोपनिषद् ४ १

प्राथमिक खोज, इस कारण, सम्पूर्ण विश्व के सजीव और निर्जीव के अनुसंधान से सम्बद्ध थी और उसका क्षेत्र अभी तक विश्व के किसी विशिष्ट अंग तक सीमित नहीं हुआ था। ऋग्वैदिक युग मे, जिसमे वातावरण, खनिज, पौधे और पशु, मानव से किसी भी दृष्टि से कम यथार्थ और सजीव नहीं थे, यह अपरिहार्य ही था कि खोज को किसी एक ही ओर विशिष्ट रूप से दिशान्वित करने के बजाय सबके सार सत् की ओर ही सचारित किया जाता, और यही किया भी गया है।

भारतीय विचार का यह एक विशिष्ट लक्षण है कि वह विचारणा के प्रत्येक चरण में यथार्थ को एक पूर्ण अशी तथा सपूर्ण ब्रह्मांड की तरह ही विचारता रहा है। वह यथार्थ को विश्लेषण द्वारा कठोर विभाजना में विभाजित नहीं करता। यथार्थ के प्रति इस सार्वभौम दृष्टि के अनुसार, प्रत्येक वस्तु सपूर्ण का अश और प्रतीक है, और इस तरह प्रत्येक कण एक ही तात्विक पूर्ण से भरा हुआ है। सत् एक ठोस रूप से जमी हुई इकाई है जिसमें न कुछ आन्तरिक है, न कुछ बाह्य। वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है, पूर्ण से ही पूर्ण विकसित होता है।[१]

ब्रह्माण्ड तारों का विश्व आकाशीय और पार्थिव दृश्य-जगत्, समग्ररूपेण मानव के बाहर नहीं है क्योंकि, जहाँ सब सब है और प्रत्येक क्षण पूर्ण है वहाँ बाह्य और आतरिक का विभेद नहीं हो सकता है, क्योंकि मानव भी पूर्ण का ही अश और अग है। प्रत्येक वस्तु यदि उस पर हम गहराई से अपने ध्यान को एकाग्र करें तो सपूर्ण को उद्घाटित कर सकती है, क्योंकि वह भी सपूर्ण का ही आनुवीक्षणिक सूक्ष्म चित्र है। यही कारण है कि कभी कभी यह कहा जाता है कि मानवीय प्रगति तथा ज्ञान के विकास मे उद्घाटित होने की ऐसी कोई भूमि नहीं है जो कि समग्रतया नवीन हो, या पहुँचने को ऐसा कोई स्थल नहीं है जो कि पूर्णतया अपरिचित हो। सभी अन्वेषण, इल्हाम और ज्ञान केवल उसके पुन अन्वेषण और पुन ज्ञान की घटनाएँ मात्र हैं जो नित्य रूप से सदैव उपस्थित बना हुआ है।

बाह्य से आतरिक की ओर सक्रमण

तो भी, ऐतिहासिक रूप से विचार जैसे-जैसे विकसित हुआ और प्रारम्भिक युगीन भोले भाले आश्चर्य का स्थान विमर्श और अवधारणा ने प्राप्त किया

---

१ बृ० उ० शान्तिपाठ ५ १ १

वैसे ही मानव का ध्यान मात्र बाह्य तथ्यों और दृश्य जगत् के निरीक्षण से हटकर आन्तरिक शक्तियों या उन सबके आधार में क्रियाशील सिद्धान्त पर आना भी प्रारम्भ हुआ।

मानव ने अब वस्तुओं के अन्तर में झाँकना प्रारम्भ कर दिया, तथा उनके अस्तित्व के कारणों और नियमनात्मक सिद्धान्तों की खोज में लग गया। किन्तु खोज का रुख अब भी विषयात्मक और बहिर्जगत् सम्बन्धी ही रहा है। आन्तरिक से अभी भी केवल मानव के आन्तरिक का अर्थ ग्रहण नहीं किया गया है। उसका अर्थ मानव की 'स्व' आत्मा के तात्त्विक स्वरूप के बजाय, अभी भी, सब वस्तुओं के आन्तरिक तथा किसी भी वस्तु की आधारभूत यथार्थता से ही अधिक है, जिसके स्वरूप का अन्वेषण किया जा रहा है। अन्वेषण की इस द्वितीय अवस्था में जीवनी-शक्ति या सामान्य रूप से सब वस्तुओं की विशेष क्रिया अभी अन्वेषण का विषय नहीं बनी। मनुष्य किसी अन्य सजीव प्राणी से, आन्तरिक रूप से, अधिक महत्त्वशाली नहीं है, यह रुख सामान्यतः हिन्दू विचार का सदैव ही एक विशेष लक्षण रहा है और उसके अन्तर में भी कोई विशेष क्रिया उसकी किसी अन्य क्रिया से इस अवस्था में अधिक आधारभूत नहीं मानी गई है जैसा कि बाद में उपनिषद् युग में माना गया है। मानव या उसका कोई विशेष लक्षण अब तक ध्यान का केन्द्र नहीं बना है। खोज का रूप अब भी चेतना या मानस के पर्दों में नहीं बल्कि सामान्य दृश्य जगत् की विशिष्ट क्रियाओं और उनके पीछे की गतिमय शक्ति की भाषा में है—इस तथ्य पर ध्यान दिये बिना ही कि वे निर्जीव हैं या सजीव। संक्षेप में विमर्श की इस द्वितीय अवस्था में, हम प्रकृति के तथ्यों की विविधता और घटना चक्र के निरीक्षण मात्र की स्थिति से, एक एकात्मक नियम या विधि की धारणा का विकास होते हुए देखते हैं, जिसे कि वेदों में ऋत के नाम से विशेष रूप से गौरवान्वित किया गया है।

विश्व की प्रत्येक नियमित वस्तु का सिद्धान्त ऋत है।[१] ऋत आधारभूत गतिमय सिद्धान्त की तरह प्रकृति के सम्पूर्ण घटना जगत् के पीछे अवस्थित है। देवताओं की धारणा में यहाँ तक कि स्वयं वरुण में यह महानतर

१ राधाकृष्णन्—इण्डियन फिलासफी भाग १, पृष्ठ ७९

है, क्योंकि विश्व की अन्तरस्थ क्रियाशक्ति होने के कारण यह अधिक आतरिक और आधारभूत है। ऋत का सिद्धान्त प्रत्येक सजीव एवम् निर्जीव प्राणी को स्वय उसके अन्तरस्थ अस्तित्व के नियम के पालन के लिए बाध्य करता है। वह पवन को वहने, जल को प्रवाहित होने और मनुष्य को ज्ञान प्राप्त करने का आदेश करता है। ऋत चूंकि सार्वभौम अन्तरस्थ शक्ति की तरह, जड और चेतन समस्त प्रकृति की विशेष क्रियाओ को नियमित करता है, इसलिए यह मानवीय ज्ञान की प्रक्रिया की आधारशिला भी है। मानव मस्तिष्क ऋत् की शक्ति के कारण ही क्रियान्वित होते हैं।[१] मनुष्य उसी अन्तर्निहित सचालक शक्ति के द्वारा जानता है जो अग्नि को प्रज्वलित तथा नदियों को प्रवाहित होने के लिए गतिमय करती है। जिस तरह अन्य सभी प्राणियों को अपने भाग मे प्राप्त कार्यों को पूरा करना है, उसी तरह मनुष्य को भी अपने जानने (सवित) के विशेष कार्य को, सवित् के शाब्दिक और विस्तृत दोनों अर्थों में पूरा करना है, अर्थात् ऋत् की सार्वभौम क्रिया की आंशिक क्रिया के रूप में मानव को जानना है।

इस प्राग्-उपनिषद् युग में विमर्श के स्वरूप के मानव-केन्द्रित या मनोवैज्ञानिक न होने के कारण हमे मानव की जानने की क्रिया या चेतना के लिए कोई विशेष पद प्राप्त नही होता, किन्तु मनोवैज्ञानिक रूप से क्रतु पद, जिसका मूल सभवत 'कृ' धातु से है और जिसका अर्थ है अपना कार्य पूरा करना, मानवीय स्तर पर अपनी क्रिया पूरी करने के अर्थ में चेतना के पर्याप्त रूप से समीप आ सकता है। इस क्रिया को विशिष्ट मानवीय स्तर पर क्रतु कहा गया है इसका प्रमाण शतपथ ब्राह्मण ४ १ ४ १ म स्पष्ट है। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि जब मनुष्य अभिलाषा करता है कि मैं उसे कर सकूँ, मैं उसे प्राप्त कर सकूँ, तब वह क्रतु है और जब वह उसे प्राप्त कर लेता है तब दक्ष है।[२] यह क्रतु पद ही है जो बाद मे इच्छा करने, सकल्प करने, तथा स्मरण करने आदि के सामान्य अर्थ में मानस और प्राण म परिवर्तित हो जाता है।[३]

---

१ ऐतरेय उपनिषद् ३ २ सज्ञानम्, अज्ञानम् विज्ञानम्, प्रज्ञानम मेध, दृष्टि धृति, मति, मनीषा, जुति, स्मृति सकल्प क्रतु असु काम वश, सर्वाण्येव इवानि प्रज्ञानस्य नाम धेयानि भवन्ति।

२ वी० हेमन इडियन एण्ड वेस्टन फिलासफी पृष्ठ ७७।

३ शतपथ ब्राह्मण, ४ १ ४ १

अनन्त से तथा सीमित असीमित से निकलता है, और यह भी कि दोनों एक दूसरे से पृथक नहीं हो सकते हैं क्योंकि दोनों ही ध्रुव यथार्थ हैं क्योंकि निराकार असत् स्वयं साकार सत् का रूप धारण करने के पश्चात् अन्तत पुन, मूल निराकार असत् में विलीन हो जाता है। सत् की जड़ें असत् में उसी तरह निहित हैं, जैसे कि माया की जड़ें ब्रह्म में। यह स्थापित करना हिन्दू विचार का एक विशेष लक्षण रहा है कि ससीम आकृतियों और पृथक विकसित वस्तुओं की अनन्तता का आधार एक आदि तत्व है, जिससे कि वे विकसित और अन्तत जिसमें विलीन होती हैं, और इस मूल तत्व को शून्य और पूर्ण अभाव और परिपूर्णता दोनों के ध्रुवीय विशेषणों के पदों में विचारा जा सकता है। असत्, इस कारण, अभिव्यंजित और सृजित के विपरीत अनभिव्यंजित और सृजन शक्ति का बोधक है। योग भाष्य[1] में भी, बाद में, इसी तथ्य[2] को अभिव्यक्ति मिली है, जहाँ कि द्रष्टा और दृश्य दोनों का अपनी सम्पर्कावस्था के पूर्व, द्रष्टा की तरह नहीं, बल्कि दृश्य और द्रष्टा की तरह बीजरूपी अस्तित्व माना गया है।

असत् सत् से उच्चतर है क्योंकि किसी विशिष्ट रूप में न होने का अर्थ है समग्र रूपों की सम्भावना की तरह अस्तित्व में होना, जो कि असत् को किसी भी परिमित लक्षण में आबद्ध करने के प्रयास को अनिवार्य रूप से वर्जित करता है। यही कारण है कि पूर्व के विचारकों ने सत् के मूल को विरोधी नामों से पुकारा है। परम सत् को, जो कि अनन्त है, काम, मनस्, सत् या असत् किसी भी नाम से सम्बोधित नहीं किया जा सकता। उसे सत् कहकर पुकारना, ससीम सत् कहकर पुकारना है जो कि वह नहीं है, और उसे असत् कहकर सम्बोधित करना उसका निषेध करना है, जो कि सत्य नहीं है। पूर्ण सत् को, जो कि सम्पूर्ण विश्व की पृष्ठभूमि में स्थित है, हमारे द्वारा सत् या असत् की तरह निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता।[3] इस कारण उसको न तो सम्पूर्ण रूप में अस्वीकार किया जा सकता है और न अनुभवमूलक रूप से स्वीकृत ही किया जा सकता है।

उसका एकमात्र ज्ञान जो हम पाते हैं वह यह है कि वह है, और यह कि वह अभी तक कोई विशिष्ट वस्तु नहीं है।

संक्षेप में, हमारी पहली विचारणा इस ब्रह्माण्ड के मर्म के लिए थी कि काम वह मूल यथार्थ है जिससे कि जगत् का उद्भव हुआ है। इसके पश्चात्

१ पृष्ठ २२ शंकर भाष्य, २ १ १७
२ पृष्ठ २३ योग भाष्य, २ २३
३ राधाकृष्णन् इंडियन फिलासफी, भाग १ पृष्ठ १०१

हमने इस वक्तव्य पर विचार किया कि 'सत् का मूल असत् मे निहित है' इसका क्या अर्थ है। हमारा, इसके बाद का प्रश्न यह है कि परम और मूल सत् की खोज कहाँ की जा सकती है ? उसका मूल आवास कहाँ है ? उसकी गवेषणा कहाँ की जाय ? और हमारे पास तथा इस वक्तव्य म कि ऋषियों ने उसे अपने अन्तरमन म खोजा, एक महत्वपूर्ण कुञ्जी है। इस तथ्य से, कि ऋषियों को बाह्य जगत् में नहीं, बल्कि अपने हृदयों में[1] उसे खोजना पड़ा, यह स्पष्ट निर्देश मिलता है कि परम यथार्थ अन्तत आतरिक यथार्थ हो सकता है, या यह कि मनस् चेतना उसके तात्विक स्वरूप के सगठन हो सकते हैं, क्योंकि बाद में उपनिषदों में आत्मा को हृदयान्तर ज्योति की तरह घोषित किया गया है, तथा और भी बाद में विशुद्ध चेतना, चित्, को वेदांत में ब्रह्म तथा साख्य योग में पुरुष का तात्विक स्वरूप माना गया है। यह कथन कि इस परम यथार्थ मे जिसे कि वेदों म आद्य मूल की तरह माना गया है मनस् का बीज सन्निहित था जो कि बाद में समग्र विभेदीकरण का आदि उद्गम बना, यह सकेत भी करता है कि अन्तत इस परम मूल यथार्थ का भी आदि चेतना जसा भी कुछ स्वरूप रहा होगा जिससे कि उस पृथक् नहीं किया जा सकता है, यद्यपि उसकी समता भी हमारे द्वारा ज्ञात अनुभवात्मिक चेतना से नहीं की जा सकती है।

हम, अब, यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मौलिक और आधारभूत यथार्थ के एक सार्वभौम और अन्तरस्थ सिद्धात के क्रमिक अन्वेषण के रूप में विकसित होनेवाली आदर्शवादी प्रवृत्तियो का एक सक्षिप्त ढाँचा हमें वेदों में प्राप्त होता है, जिसकी अन्तिम पराकाष्ठा उपनिषदो मे निरपेक्ष आत्मा के सिद्धात मे साकार होती है।

प्राग् औपनिषदिक विमर्श से औपनिषदिक अन्त करण मे सक्रमण

हम देख चुके हैं कि ऋग्वेद म परम यथार्थ की विचारणा के प्रयास किये जाते हैं, किन्तु फिर अन्तत उसे अविशेषित ही छोड़ दिया जाता है। यह प्रयत्न उस सीमा तक अत्यधिक महत्वपूर्ण है, जहाँ तक यह निर्दिष्ट करता है कि वदिक युग में विचार का केन्द्र, घटना जगत् की अनेकता से प्रकृति के दृश्य जगत् और तथ्यों, बहुलता के स्रोत तथा मूल तत्व के एक एकात्मक और आधार भूत सिद्धात की धारणा म परिणत हो गया था। जहाँ ऋत की धारणा, सृष्टिसूक्त का अन्त प्रेक्षण तथा अन्य मन्त्र सत् के एक सार्वभौम और आधार-

1 यजुर्वेद ३२ ८

मूल सिद्धांत के आविष्कार का निर्देश करते हैं वहीं हृदयों में खोजने का सन्दर्भ, सिद्धांत की आंतरिकता का भी समर्थन देता है।

किन्तु वैदिक विचार ने, जिसने की सार्वभौम और आधारभूत सत् की खोज के लिए अन्तर में झांकना प्रारम्भ कर दिया था, इस आंतरिक सत् के निश्चित स्वरूप को अविकसित अवस्था में ही छोड़ दिया। वह एक केन्द्रस्थ सिद्धांत के कोरे अस्तित्व की धारणा पर ही ठहर गया, जिसका निश्चित स्वरूप स्पष्टरूपेण निर्णीत नहीं था। किन्तु कोरे अस्तित्व की धारणा में कोई दार्शनिक स्थिरता नहीं हो सकती थी। यथार्थ को कोरे सत् का विशेषण देनेवाली धारणा पर कोई भी विचार एक नहीं हो सकता है। इस प्रकार की धारणा स्वनिर्मित है, क्योंकि वह हमारी बौद्धिक जिज्ञासा को जगाने या उत्प्रेरित करने में असफल सिद्ध होती है। वैदिक ऋषियों द्वारा समर्थित अस्तित्व का कोरापन औपनिषदिक ऋषियों को सन्तुष्ट नहीं कर सका। उन्होंने 'उसके' 'क्या' के प्रति भी जिज्ञासा प्रगट की, और यथार्थ के प्रति पूछा गया यह 'क्या' ही है जिसे कि उपनिषद् के ऋषियों ने अपने चिन्तन का विषय बनाया।

इस स्थल से ही औपनिषदिक् विचारक खोज के क्रम को अपने हाथों में लेते हैं और उसे ऐसी बौद्धिक तथा व्यवस्थात्मक विधि से विकसित करते हैं जो कि उस युग से ही विश्व के आदर्शवादी चिन्तन के लिए, सार्वभौम रूप से, औपनिषदिक दर्शन की एक स्थायी देन मानी जाती रही है। उपनिषदों की दो उद्घोषणाएँ थीं। प्रथम यह कि परम यथार्थ शुद्ध चित् और आनन्द से सगठित एक नित्य चेतन सिद्धान्त है, तथा द्वितीय यह कि परम यथार्थ स्वतः के स्व से अन्य नहीं है। ये धारणाएँ औपनिषदिक् चिन्तन को वैदिक विचार से स्पष्टरूपेण पृथक कर देती हैं। वैदिक विचार ने, परम यथार्थ को, उसके स्वयं के स्वरूप तथा मानवीय चेतना व उसके सम्बन्ध, दोनों ही दृष्टियों से, पूर्णरूपेण निर्विशिष्ट ही छोड़ दिया था।

औपनिषदिक दर्शन में चेतना

हम ऋग्वेद १, १६४, ३७ में इस प्रकार के हेतुवादी चिन्तन का दर्शन करते हैं कि 'मैं वास्तव क्या हूँ मैं नहीं जानता।'[१] यह मानव द्वारा स्वयं अपने स्व पर प्रश्न प्रेरण का सम्भवतः प्रथम दृष्टांत है। वेदों के इस हेतुवादी विमर्श को, आत्मा के स्वरूप पर उपनिषदों के गम्भीर और सघन ध्यान का प्रारम्भ बिन्दु माना जा सकता है। मैं कौन हूँ (कोऽहम्) और

१ ऋग्वेद १, १६, ४, ३७

"आत्मा क्या है। जैसे—आग्रही प्रश्न उपनिषदों में उत्तर पाने के लिए निरंतर माँग करते रहते हैं।

ऐतिहासिक रूप से, विश्व में चेतना की धारणा के विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर व्यवस्थात्मक विमर्श का सम्भवत प्रथम निश्चित प्रयास हमें एतरेय आरण्यक में उपलब्ध होता है। यथार्थ को वनस्पति, वस्तुओं और मनुष्यों में आविष्कृत संविद् और बौद्धिकता के परिमाण के आधार पर, क्रमिक रूप से वर्गीकृत करने का यहाँ प्रारम्भ होता है। चेतना के सम्बन्ध में हिन्दू चिन्तन की प्रारम्भिकतम तत्वमीमासा का प्रतिनिधित्व करने के कारण, ऐतरेय आरण्यक का सम्बन्धित अंश, लम्बा होने के बावजूद भी, पूर्णाश में उद्धृत किए जाने के योग्य है। हम पढ़ते हैं जगत् में झाड़ियाँ हैं, वृक्ष हैं और पशु हैं और वह आत्मा को उन सब में क्रमश विकसित होते हुए देखता है। क्योंकि, झाड़ियाँ तथा वृक्षों में केवल 'जीवन रस' देखा जाता है, किन्तु सजीव प्राणियों में चित्त का अस्तित्व भी है। सजीव प्राणियों में आत्मा क्रमश विकसित होता है और मानव में, पुन, आत्मा का विकास क्रमश होता है, क्योंकि वह प्रज्ञा से सर्वाधिक सम्पन्न है। जो उसे ज्ञात हो जाता है वह उसे कहता है और जो उसे ज्ञात है वह उसे ही देखता है वह जानता है कि कल क्या घटित होनेवाला है वह दृश्य और अदृश्य जगत् को जानता है और मर्त्य साधनों से वह अमृतत्व की इच्छा करता है। इस तरह वह सम्पन्न है। अन्य प्राणियों के सम्बन्ध में, भूख और प्यास एक प्रकार की समझ है, पर वे नहीं कहते कि उन्होंने क्या जान लिया है, नहीं जानते कि कल क्या घटित होनेवाला है आदि। इनकी पहुँच इससे और आगे नहीं है। अब प्रश्न यह है कि इस आत्मा का सत्य स्वरूप क्या है, जिसे कि वनस्पतियों पशुओं और मानवों में क्रमानुसार विकसित होते हुए पाया जाता है? आत्मा के ज्ञान का उद्भव क्रमश किस प्रकार होता है? इस तरह के ही प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास उपनिषदों के ऋषि करते हैं, जिन्होंने कि आत्मा को एक रहस्य या एक पूर्णरूपेण नवीन धारणा की तरह माना और जिन्होंने कम या ज्यादा आत्मरहस्य के उद्घाटन में ही अपने आपको समर्पित कर दिया था।

छांदोग्य उपनिषद् में जब अमर्त्य आत्मा की ज्ञान प्राप्ति के हेतु, इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास पहुँचते हैं, तब प्रजापति इस रहस्य को उनके समक्ष क्रमश प्रगट करते हैं। आत्मा का तादात्म्य क्रमश एवं पश्चा शरीर चेतना, स्वप्न चेतना और सुषुप्ति चेतना से तब तक किया जाता है जब तक

कि अन्ततः उसे आनुभविक रूप से गुजरनेवाली एक वस्तु घोषित नहीं कर दिया जाता। इसी के समान एक भौतिक मनोवैज्ञानिक विधि तैत्तिरीयोपनिषद् में भी ग्रहण की गई है, और यहाँ भी, आत्मा के स्वरूप का क्रमशः अन्नावरण याज्ञवल्क्य की विज्ञानमाया में पहुँचकर, अन्ततः आनन्द माया की तरह विशेषित होकर पूर्णता प्राप्त करता है।

आत्मा के स्वरूप का उत्तरोत्तर निगमन

ऋग्वेद में जहाँ आत्मा यह सात्विक रूप या सामान्यतः किसी भी वस्तु के सर्वप्रधान रूप की तरह प्रयुक्त हुआ है वहीं उपनिषदों में उसे केवल मानवीय स्वरूप के अर्थों में ही ग्रहण किया गया है। आत्मा की संज्ञा एक इस प्रकार का नाम है, जिसे विभिन्न युगों में विभिन्न विषय वस्तुओं के साथ संयुक्त किया गया है। उसके विकास का, सुनिश्चित अवस्थाओं द्वारा, स्वयं अपना एक मार्ग रहा है। आत्मा के सिद्धान्त का केवल विषय वस्तु ही नवीन नहीं है बल्कि यह चिन्तन की भी एक नई विधि प्रस्तुत करता है। इस धारणा का निगमन ऊपर निर्दिष्ट एक प्रकार की भौतिक मनोवैज्ञानिक विधि के अनुसार किया गया है। यह विधि पूर्व युग की सत्तामीमांसात्मक विधि से भिन्न है। विकास की प्रत्येक उत्तरोत्तर अवस्था इसी वैज्ञानिक विधि के निरन्तर गहरे होते जाने को प्रदर्शित करती है। इस स्थल पर यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि इस नये भौतिक मनोवैज्ञानिक विधिशास्त्र में भी, जिसकी प्रवृत्ति प्रत्येक पद पर आत्मा को अधिकाधिक सूक्ष्म बनाने की ओर अग्रसर है पूर्वयुगीन ब्रह्म की जागतिक धारणा है और आत्मा के उसके साथ तादात्म्य को परित्याग नहीं किया गया है। आत्मा के सिद्धान्त के इस नये विकास में अतीत की जड़ों के साथ कोई विच्छिन्नता नहीं है, और एक बार सूक्ष्म के साथ विराट की अपेक्षित तथा न्याय युक्त ठहराई गई समतुल्यता को बाद में सर्वदा ही सुरक्षित रखा गया है। इस कारण आत्मा, जब कि यह विषयी की तरह सैद्धांतिक द्रष्टा है उस समय भी जागतिक और सार्वभौम पदार्थ के साथ एक है।

आत्मा शरीर की तरह

मानव में आत्मा का तादात्म्य सर्वप्रथम शरीर के साथ किया जाता है। इस तादात्म्यीकरण के अनुसार शरीर ही मानव का स्वरूप और सम्पूर्ण व्यक्तित्व है। किन्तु शीघ्र ही यह अनुभव कर लिया जाता है कि शरीर जो कि मरण धर्मा है और सूक्ष्म नहीं है, मानव में निरपेक्ष रूप से चैतन्य नहीं हो सकता।

आत्मा प्राण की तरह

हम, इस प्रकार, अन्वेषण के द्वितीय चरण पर पहुँचते हैं। अब यह घोषित किया गया है कि प्राण ही आत्मा है। प्राण अपेक्षाकृत अल्प विभाजनीय तथा अधिक सूक्ष्म है। वह शरीर को जीवन देता है और उसे निरन्तर गतिमय रखता है। इन्द्रियाँ प्राण के अभाव में काम नहीं कर सकती।[१] मनोवैज्ञानिक कारणों से भी प्राण शरीर तथा इन्द्रियों से श्रेष्ठ है। अत प्राण आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित होने का अधिकारी है।

उसे अमर्त्य माना गया है, तथा 'सत्यस्य सत्यम्'[२] की तरह भी प्रतिपादित किया गया है क्योंकि वह अभ्रान्त रूप से क्रियाशील और जीवनदाता है। आत्मा की तरह प्राण के इस नव्य-सत्य की जागतिक समानान्तर धारणा वायु है। और इस प्रकार प्राण वायु की धारणा में, इस अवस्था में भी, हमें प्राचीन तथा सदैव स्वीकृत सूक्ष्म और विराट के तादात्म्य के लिए नवीन विषय-वस्तु प्राप्त हो जाता है।

आत्मा प्रज्ञा की तरह

आत्मा में विषयवस्तु के विकास की तृतीयावस्था चेतन प्रक्रियाओं की एकता की एक नई पूर्वकल्पना से विलक्षण रूप से चिह्नित है। इस चरण में आत्मा को अब प्रज्ञा की तरह घोषित किया जाता है। यह प्रज्ञा सब ग्राहक उपकरणों के यांत्रिक एकीकरण का केवल एक आश्रय स्थान मात्र है।[३] यह उच्चतर स्थिति जहाँ चेतना की धारणा विचार की एक आध्यात्मिक क्रियात्मकता की तरह हो अभी तक नहीं आई। इन्द्रियों की मनोवैज्ञानिक क्रियाओं का आश्रय स्थल, प्रज्ञात्मा प्रगाढ़ निद्रा और मूर्च्छावस्था में नहीं पाई जाती जब कि मनुष्य केवल जीता है और श्वास लेता है किन्तु ऐन्द्रिक क्रियाओं के प्रति चेतन नहीं होता है।[४] किन्तु चूँकि प्रज्ञा का प्राण के साथ तादात्म्य है, इसलिए उसकी कल्पना समग्र ऐन्द्रिक क्रियाओं के केवल मिलन स्थल की तरह ही नहीं की जाती, बल्कि उसे सदैव उपस्थित भी माना जाता है।

---

१ बृहदारण्यकोपनिषद् १ १ ७, छांदोग्योपनिषद्, ५ १ ६

२ बृहदारण्यकोपनिषद्, २ ३ ६

३ कौषीतकि उपनिषद् ३२,३ ७

४ कौषीतकि उपनिषद्, ३४, ४ ११

आत्मा विषयी की तरह

इसके पश्चात्, आत्मा की धारणा, प्रज्ञा के समुदायों के पुराने रूप से भिन्न, प्रत्यक्ष के सक्रिय विषयी और एक तात्विक द्रष्टा के रूप में की जाती है। आत्मा अब आन्तरिक विषयी बन जाता है जो कि स्वनिर्भर और स्वतन्त्र है।[1] आत्मा विषयी की तरह प्रज्ञा से अब इतनी दूर और स्वतंत्र है कि वह एक जगत् से दूसरे जगत् में निर्बाध रूप से गतिमय हो सकती है।[2] इसकी दूसरी ओर आत्मा का स्थानीयकरण भी कर लिया जाता है और यह न सिर्फ केवल 'द्रष्टा' ही रहती है बल्कि आन्तरिक शासक, आन्तरिक स्वामी भी बना दी जाती है।

इसके आगे इस अवस्था तक आत्मा का उद्देश्य भौतिक-मनोवैज्ञानिक से मनोआदर्श स्तर तक विकसित हो पाया है। वह जो उसे जानता है वही हो जाता है। किसी वस्तु को जानना उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना है। वह जो ब्रह्म को जानता है ब्रह्म हो जाता है।[3] मैं ब्रह्म हूँ। हम यहाँ यथार्थ को समझने के दो अर्थों, अर्थात् जानकर उसे समझना और ज्ञेय के साथ एक होकर उसे समझना, के तादात्म्य पर पहुँचते हैं। यह धारणा कि कोई वही हो जाता है जो वह जानता है ब्राह्मणग्रन्थों के आदि आदर्श विचारों का विकास है। यह विश्वास इस कारण न्याय-युक्त भी ठहराया जाता है क्योंकि सूक्ष्म विराट का तादात्मीकरण हिन्दुओं के लिए इस समय और सदा ही मान्य है। आन्तरिक आत्मा, जो कि प्रमुख रूप से चेतना है, साथ ही सर्वात्मा भी है। सभी बाह्य वस्तुएँ विज्ञानमय पुरुष से उद्भूत होती हैं, और इस कारण अग्निस्फुलिंगों की तरह, सब वस्तुएँ तात्त्विक रूप से एक ही स्वभाव स्वरूप हैं। अतः आत्मा विषयी की तरह, एक व्यक्ति मात्र नहीं है, बल्कि एक निरपेक्ष प्रत्यय या सार्वभौम विषयी है।

आत्मा चित् की तरह

आत्मा पर अब तक एक अमरत्वधर्मा और नित्य रूप से अस्तित्ववान यथार्थ की तरह विचार किया गया है जो स्वाधिकार और निरपेक्ष रूप से अस्तित्व में है। तदनन्तर उस पर अब तक सत् की तरह विचार किया गया है। तत्पश्चात् उस पर केवल बौद्धिक क्रियाओं के पदों में भी विचार

---

१ बृहदारण्यकोपनिषद् २ १ १८

२ बृहदारण्यकोपनिषद्, ४ १ ११

३ मुण्डकोपनिषद् ३ २ ९; छान्दोग्योपनिषद् २ २ १ ४

किया गया है। इस प्रकार आत्मा की धारा स्थूल से सूक्ष्म, तथा सूक्ष्म से और सूक्ष्मतर में उस समय तक विकसित होती आई है, जब तक कि उसकी निष्पत्ति मनोवैज्ञानिक क्रम के अंतिम सदस्य, शुद्ध चित् की धारणा में परिणत नहीं हो गई है।

शरीर के अन्य अंगों की मनोवैज्ञानिक और बौद्धिक प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में आत्मा अब जब यह प्रश्न पूछती है कि 'कोऽहम्'[१] तो पाती है कि वह इन्द्रियों के व्यापारों से किसी भी तरह प्रत्यक्षरूपेण सम्बद्ध नहीं है, बल्कि वह देखने की क्रिया का द्रष्टा है, श्रवण की क्रिया का श्रवणकर्ता है, इत्यादि।[१] यह शुद्ध विषयी चेतना है, जिसे व्यक्तिगत स्व प्रत्यय से मिश्रित नहीं करना चाहिए। चित् को यहाँ अपदार्थीकरण की पवित्रता या एक रूप, एक प्रकार की धूम्ररहित अग्निशिखा, और व्यक्तिगत विचार से तादात्म्यीकृत किये जाने से अत्यन्त दूर, एक विचारातीत प्रत्यय के अर्थ में ग्रहण किया गया है।

आत्मा, इस दृष्टि के अनुसार, अब शुद्ध चित् की तरह मौलिक और आधारभूत यथार्थ है। शुद्ध चित् का यहाँ स्वतन्त्ररूपेण और स्वाधिकारिक अस्तित्व है। उसके अस्तित्व पर ही सब दृश्य जगत् पृथ्वी और आकाश, जीवन और प्राण की यथार्थता का अस्तित्व निर्भर होता है। सूर्य चन्द्र इन्द्रियों और मनस् की दृश्य यथार्थता, यदि अनभिव्यक्त भी होती है तब भी पूर्ण चेतना अस्तित्व में रहती है, वह 'स्वयम् ज्योति' की तरह अस्तित्व में है, जिसके प्रकाश के द्वारा ही शेष सब कुछ प्रकाशित होता है।[२]

यह चित्यात्मा जो कि आद्योपान्त शुद्ध चित् से निर्मित है, निरपेक्ष रूप से प्रकाशित होती है। नमक की डली की तरह जो कि सर्वांश में क्षार से पूर्ण होती है, आत्मा भी आद्योपांत सचेतन है।[३] इस पूर्ण और निरपेक्ष चेतना का प्रधान लक्षण यह है कि, यद्यपि इसे विशेष विषयों का कोई बोध नहीं होता है और न ही यह विषयी और विषय के विभेद से विशेषित होती है तब भी इसका स्वरूप अचेतन नहीं होता। यह प्रयेसि द्वारा आलिंगित पुरुष की चेतना की तरह, बिना किसी विभेदात्मक बोधानुभव के एक अखंड और एकात्मक चेतना है। यह विस्तृत और निरपेक्ष चेतना जो कभी-कभी अपना चैतन्य खो देती सी आभासित होती है (जैसे प्रगाढ निद्रावस्था में) वस्तुतः उसे खोती

१ मुण्डकोपनिषद् २ १ बृहदारण्यकोपनिषद्, २ १ २०

२ छान्दोग्य उपनिषद् २, ३, ४

३ बृहदारण्यक, ४, ५, १३

नहीं है, क्योंकि वह नित्य और सतत सचेतन रहती है। 'पश्यन् वै न पश्यति' इस स्थिति में देखते हुए भी ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे कि वह देखती नहीं है। उसे कोई विशिष्ट ज्ञानानुभव नहीं होता है किन्तु इस कारण नहीं कि वह चेतन नहीं है, बल्कि इस कारण कि वह ज्ञानानुभव कर सके ऐसा अन्य और भिन्न कोई भी विषय उससे नहीं है।[1] यदि आत्मा अबाध और निरपेक्ष रूपेण सचेतन नहीं है और चेतना मध्य के अन्तरालों में वस्तुतः बुझ जाती है, तो बाद में, वह पुनः वापिस कहाँ से और कैसे आ सकती है।[2] वह देखते हुए भी न देखती हुई इस कारण प्रतीत होती है क्योंकि जब सब के साथ आत्मैक्य को उसके द्वारा अनुभव कर लिया गया है, और जब उससे अन्य शेष सब अशेष हो गया है, तब देखे भी तो कौन और किसे देखे।

सारांश में, आत्मा के औपनिषदिक सिद्धान्त में हम एक ऐसे बौद्धिक प्रत्ययवाद के दर्शन में पाते हैं जो ऐतिहासिक रूप से सम्भवतः विश्व का सर्वप्रथम प्रत्ययवाद है। यह प्रत्ययवाद सैद्धान्तिक रूप से अपने निष्कर्षों तथा एक निरपेक्ष पूर्ण की यथार्थता, पूर्ण और नित्य चेतना के अस्तित्व की उद्घोषणाओं में भी अति दूरगामी है, जो कि शुद्ध चित् की तरह विषयी और अविषयी के विभेद से मुक्त है। यह शुद्ध और निरपेक्ष चेतना स्वयं ज्ञान की किसी क्रिया में कभी ज्ञात नहीं होती क्योंकि, ज्ञाता स्वयं जाना ही कैसे जा सकता है?

हम बाद में देखेंगे कि विकास की पश्चात्कालीन अवस्थाओं में किस तरह इस परम और अनुभवातीत चेतना की धारणा को दार्शनिक दर्शनों में या तो सुरक्षित रखा जाता है या पूर्णतया बहिष्कृत कर दिया जाता है।

चित् और आनन्द

परम यथार्थ का यह विशेषीकरण जो आत्मन् व 'विज्ञानघन' की निरपेक्ष चेतना की धारणा में परिपूर्ण होता है, और जो काल, दिक् और कार्य-कारणता की श्रेणियों से अतीत है, अभी भी सर्वांगीण नहीं है। आत्मा की इस तात्त्विक मनोवैज्ञानिक रचना में धार्मिक बोध की दृष्टि से एक अभाव शेष रह गया है, जो हमें आनन्द की तरह चेतना की धारणा के अन्तिम लक्षणों पर ले जाता है।[1] आत्मा का सत्य स्वरूप 'सच्चिदानन्द' है। फिर

१ बृहदारण्यक, ४ ३ ३२ ११, छान्दोग्य, ४ १० ५, तैत्तिरीय, २८ ३ ६, मुण्डक, २ २. ७।

और आनन्द की धारणाओं पर यद्यपि विभिन्न विधियों से पहुँचा गया है, किन्तु अन्त मे परम गुणों की तरह उनका तादात्म्य कर लिया जाता है। शुद्ध और पूर्ण चेतना का आनन्द से भेद नहीं किया जा सकता। आनन्द वही है जो भूमन् है।[1] श्रेष्ठतम आत्मा स्वयं आनन्द है, क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता, आकांक्षा नहीं, कोई तनाव, कोई बन्धन उसमें नहीं और अन्ततः उसका कोई द्वितीय भी नहीं। ब्रह्म, अनुभवाश्रित चेतना से पूर्णतया भिन्न तथा अति चेतना की अतिमावस्था की तरह आनन्द का स्वरूप ही है। वह आनन्द ही है।

इस आधारभूत धारणा के इतिहास के अतीत सूत्रों का ब्राह्मणों के स्वर्ग के विचार में खोजा जा सकता है, जहाँ आनन्दवादी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति सर्वोत्तम लोक, ब्रह्म लोक की धारणा में हुई है।[2] सांसारिक सुख नित्य नहीं है क्योंकि वह क्षणिक है और पुनः दुःख की ओर वापस ले जाता है अतः स्थायी रूप से शुभ भी नहीं है। आनन्द ही केवल जीवन्त और चिरन्तन रूप से शुभ है, क्योंकि वह नित्य है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि पूर्ण चेतना या आनन्द का हर्षोन्माद की अनुभूति से आकस्मिक और सहज रूप से उद्भूत होनेवाली रहस्यमयी भावना का तादात्म्य नहीं है। आत्मा का यह अंतिम विशेषीकरण केवल उसी वैज्ञानिक एवं बौद्धिक विधि के सातत्य में निहित है जिसके द्वारा कि सर्वोच्च यथार्थ को अब तक पदशः निगमित किया गया है और जो कि पूर्णतः बुद्धियुक्त एवं विधिशास्त्रीय रूप से अन्नमय से विज्ञानमय, तथा विज्ञान-मय से आनन्दमय में विकसित होता जाता है।

इस स्थान पर यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या यथार्थ का आनन्द की तरह निर्देशन पूर्णतया अंतिम और परम है और यदि ऐसा है तो अन्य स्थलों पर पुनः पुनः दुहराये गये उसके अनिर्वचनीय वर्णन से इस तथ्य की समन्विति कैसे बैठेगी? क्या यह नहीं हो सकता है कि आनन्द भी उन आवरणों में एक आवरण हो, एक अवस्था मात्र, यद्यपि वर्णनीय अवस्थाओं में सर्वान्तिम जिसके पार उसका किसी वस्तु की तरह कोई वर्णन नहीं हो? या फिर विरुद्ध गुणों द्वारा ही उसका निर्देश सम्भव है। आनन्द की अवस्था आखिरी और आत्यंतिक है किन्तु वर्णनीय अवस्थाओं में ही केवल वह अन्तिम

१ छान्दोग्य ७ २३ १ ७ २४ १।
२ कील हेमन।

प्रकाश है, अनुभव से अप्रभावित है और तब भी आनन्दजनक रूप से सर्वा-नुभव के लिए आधारभूत है। चेतना या स्व के आधारभूत स्वरूप का यह सिद्धांत दर्शनों के लिए एक महत्त्वपूर्ण वसीयत रही है जिससे उन्होंने चेतना के स्वभाव और क्रियात्मकता के सम्बन्ध में कभी-कभी तो परस्पर विरोधी सिद्धांतों को भी निर्मित किया है। उदाहरणार्थ, कणाद और गौतम, अनु-भवातीत चेतना की धारणा के विरुद्ध, जिसने कि उपनिषदों की प्रतिमा-वस्थाओं को चिह्नित किया है और जो आगामी अध्यायों में हमारी चर्चा की विषय वस्तु होगी, अनुभवमूलक और सापेक्ष चेतना की यथार्थता में पुन अपनी आस्था प्रगट करते हैं।

क्या सार्वभौम और पूर्ण चेतना का औपनिषदिक दृष्टिकोण अज्ञेयवादी है

चूँकि आधारभूत और निरपेक्ष चेतना को उपनिषदों ने अनिर्वचनीय घोषित किया है, इसलिए कभी-कभी यह दृष्टिकोण ग्रहण किया जाता है कि हम आत्मा का सुनिश्चित स्वरूप ज्ञात नहीं है और हम नहीं कह सकते हैं कि अन्तत आत्मा 'अ' है या 'अज' है। अज्ञेयवादी दृष्टिवाले व्याख्याकार कुछ निम्न प्रकार की युक्ति अपने समर्थन में प्रस्तुत करते हैं। परम यथार्थ कुछ एक ही हो सकता है, वह या तो वर्णनीय है या अवर्णनीय है। यदि उसका रूप प्रथम की तरह है तब उसे सुनिश्चित रूप से, शुद्ध चित् या शुद्ध आनन्द की तरह वर्णित किया जाना चाहिये जिसे कि अनुभव किया तथा व्यक्ति द्वारा भोगा जा सकता है। और यदि इसके विपरीत यह अनिर्वचनीय है तब वह स्वरूपत अज्ञेय हो जाता है और चेतन या अचेतन 'अ' या 'अज' की तरह वर्णित नहीं किया जा सकता है। इस तरह अवर्णनीय होकर यह बुद्धि युक्त विवेचना के क्षेत्र के बाहर हो जाता है। और जब कि इस पूर्ण तत्त्व को शुद्ध बुद्धि या आनन्द की तरह विशेषित किया ही नहीं जा सकता है, क्योंकि उसमें अनुभव के लिए अनिवार्य विषयी और विषय के द्वैत की उपस्थिति अन्तर्भा-वित है जिसका कि उपनिषदों ने आग्रहपूर्वक निषेध किया है तब आत्मा को एक अज्ञेय वस्तु मानना होगा, एक शून्य मात्र, जिसका कि ठीक स्वरूप कभी ज्ञेय नहीं बनता।

यह सत्य है कि पूर्ण चेतना में विषयी और विषय के द्वैत के निषेध पर उपनिषद् आग्रहपूर्ण हैं किन्तु उसके शून्य या अज्ञेय तुल्य होने के निषेध पर भी उनका आग्रह समान ही है।[१] इस कारण इस स्थल पर हम उनके समर्थ

---

१ बृहदारण्यक २.४ ८, १ ७ २१ ४ ४ १८, ४ १ १०।

२ केनोपनिषद् १४, वह ज्ञात और अज्ञात दोनों है।

तक भेड़ा-न्याय की दुविधा में फँस जाते हैं। यह प्रतीत होता है कि उपनिषद् या तो स्वयं अपने विपरीत जाते हैं या फिर अज्ञय का उपदेश करते हैं।

इस तरह प्रश्न का रूप यह हो जाता है कि क्या हम विभेदहीन पूर्ण चेतना की अवर्णनीयता का समन्वय, उसके स्वरूप की चित् या आनन्द की तरह की गई घोषणा से कर सकते हैं? आत्मा, आत्यतिक रूप से, चेतन है या अचेतन या चेतन और अचेतन दोनों है या चेतन और अचेतन दोनों नहीं है?

उपरोक्त उभय-सभय तक का उत्तर यह है कि उपनिषद् न तो स्वय अपना विरोध करते हैं, और न आत्मा के सम्बन्ध में अज्ञेयवाद का ही उपदेश करते हैं। अज्ञेयवादी व्याख्याकार अपनी युक्ति म एक प्रच्छन्न आधार उपनय को मान लेते हैं, जो कि अनिवार्यत सत्य नही है। अनुभवमूलक वर्णनीयता का विरोधी द्वयत्व नहीं है और अनुभवातीत सत्ता, अनुभवमूलक अज्ञेयता, से इसकी असगति भी नही है। इस अननुभवमूलक यथार्थ की सत्ता को प्रस्थापित करने के लिए ही निरपेक्ष आत्मा का सिद्धान्त उत्सुक है। अनुभव और अनु भवमूलक रूप से ज्ञेय यथार्थ सुस्पष्ट है, किन्तु वह स्व-आधारित नहीं है। उसका एक अस्पष्ट आश्रय और आधारभूत भित्ति है, जो कि अनस्तित्ववान नहीं है। केवल उस परम सत्य को अनिवार्य द्वैत के हमारे अनुभवमूलक ढाँचों में समग्ररूपेण अक्षेप नहीं किया जा सकता है।

इस कारण, आधारभूत परम चेतना की धारणा अज्ञेयवादी नहीं है, बल्कि यह स्वय आलोचक की ही भूल है, जो कि वह पूर्व से ही यथार्थ के स्वरूप को निश्चयात्मक से मापने योग्य मान लेता है, जो अपने आप में एक अवांछनीय पूर्व मान्यता है, और फिर शिकायत करता है कि उसके स्व-आरोपित मापदड से यथार्थ का माप और उद्घाटन नहीं होता है। विवेचनात्मक विचार के किसी विशिष्ट रूप में परम सत् को अनिवार्य रूप से उद्घाटन योग्य अपेक्षित मानकर हम स्वय ही अपने आपको एक गलत स्थिति में रख लेते हैं। और, यदि कोई ऐसा करता है तो उसके लिए अज्ञेयवाद अपरिहार्य ही नहीं, स्व-पुष्ट भी होगा। इस तरह अज्ञेयवाद की समस्या यथार्थ नहीं केवल एक छद्म समस्या मात्र ही है। यह पूर्वानुमान पर आधारित एक प्रकार का हेत्वाभास है जो कि असीम को ससीम मानकर यह शिकायत करता है असीम ससीम की तरह व्यवहार क्यो नहीं करता।

ज्ञान की किसी भी क्रिया म जो वस्तु ज्ञेय बनती है वह सीमित तथा सापेक्ष होती है, और जो कुछ भी इस तरह ज्ञेय बनता है, वह इस कारण ही अपरिसीम और निरपेक्ष नहीं रह जाता। किन्तु वह अपरिसीम और न निरपेक्ष यथार्थ ही है जो कि हमारी सापेक्ष बुद्धि की पकड़ से बच जाता है,

और जो कि ससीम की आधार और मूल भित्ति है अत्यन्त यथार्थ है, क्योंकि अन्यथा सान्त भी यथार्थ नहीं हो सकता है। इस कारण उपनिषद्-दर्शन अज्ञेयवाद का उपदेश देने से बहुत दूर, एक नई दृष्टि का अनावरण करता है जो कि अनुभववादी के उस लघु द्वार से अत्यधिक विशाल है जिसमें से कि सापेक्ष और सान्त ज्ञान ही केवल प्रविष्ट हो सकता है और जिसके कारण कि यह निरपेक्ष और पूर्ण सत् के निषेध को प्राप्त हो जाता है।

इस तरह अनुभववाद और अज्ञेयवाद यथार्थ के प्रति मानवीय मन के दो अशेष विकल्प नहीं हैं। अनुभव और अज्ञेयवाद की इन दोनों प्रवृत्तियों के मध्य सर्वातिरिक्तवाद, अनुभवातीतवाद या आधारभूत परम चेतना का सिद्धान्त है, जो कि दोनों अतिवादी दृष्टिबिन्दुओं के खतरों से पूर्ण सुरक्षित है। अज्ञेय-वाद को तो वस्तुतः, अनुभववाद की अपरोक्ष उत्पत्ति मानना चाहिए। अनुभवातीत चेतना का उपदेश तथा प्रस्थापन, जिसकी संगति व्यापक व्यावहारिक या अनुभववादी अवधारणा के सिद्धान्तों से नहीं बैठ सकती, उप-निषदों की विशेष कीर्ति का प्रतीक है। इस कारण, यदि हम चेतना के स्वरूप के प्रति यथार्थ औपनिषदिक दृष्टिकोण को समझना चाहते हैं, तो हमें अपने आपको निम्न भूलों से सचेत रखना अति आवश्यक है।

प्रथमतः यह कि व्यावहारिक रूप से अनुभूत यथार्थ ही एक मात्र यथार्थ है, और जो इस तरह अनुभवगम्य नहीं है वह अस्तित्व में ही नहीं है[1]। और द्वितीयतः यह कि निरपेक्ष एवं अनुभवातीत पारमार्थिक यथार्थ निम्नतर या व्यावहारिक यथार्थ के ही स्वरूप का है जिससे कि यह एक साधारण विषय की तरह परिभाषा इत्यादि के साधनों से ज्ञात बन सकता है।

परम चेतना तथा परम वस्तु के निश्चित निरूपण के इस अभाव ने, भारतीय दर्शन के बहुतेरे व्याख्याकारों को पहेलियों में भटका दिया है। डा० ओहस्टम तथा ड्यूसेन जैसे धुरंधर पण्डितों की व्याख्याएँ भी शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित तथा [illegible] अद्वैत दर्शन द्वारा विकसित अनुभवनिरपेक्ष सिद्धान्त के परम स्वरूप के प्रति संदेहपरक प्रतीत होती हैं। डा० [illegible] मानते हैं कि आत्मा का स्वरूप एक पहेली है और वह न 'अ' है, न 'यह' ही है।[2] ड्यूसेन का विचार है कि आत्मा से अनात्मा के सम्पूर्ण भाव जब पृथक् कर लिए जाते हैं तब आत्मा का जो कुछ भी शेष रह जाता है, वह चेतना नहीं

---

१ स्वात्मनिरूपणम् १ १६ १८, कहा गया कि स्वयं ही अनुभव है, इसलिए वह अनुभव का विषय नहीं है और इस कारण किसी का यह निष्कर्ष अनुचित नहीं कर लेना चाहिए कि उसकी कोई सत्ता ही नहीं है, क्योंकि उसका अस्तित्व सदैव ही शुद्ध चित् के रूप में होता है।

बल्कि अचेतन होना है।[1]

चेतना के परम सिद्धान्त के सम्बन्ध में, डॉ० जोहन्स्टन तथा ड्यूसेन की व्याख्याओं से दो प्रश्न पैदा होते हैं —(१) क्या याज्ञवल्क्य के उत्तर 'न प्रेत्य' इत्यादि में कोई यथार्थ पहेली निहित है, और क्या परम यथार्थ के चेतन या अचेतन स्वरूप के सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य के मस्तिष्क में किसी प्रकार का संदेह निहित है,—(२) क्या यह सत्य है जैसा कि डा० जोहन्स्टन सोचते हैं कि याज्ञवल्क्य की उस समस्या से, जो कि निःसंदेह जैसा कि उन्होंने उचित ही कहा है, समस्या की केन्द्रस्थ पहेली है, योग और सांख्य दर्शन पलायन कर जाते हैं, और साख्य तथा योग दर्शन परम यथार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में सचेत रूप से एवं विचारपूर्वक ही निर्णय लेकर एक सुनिश्चित धारणा पर पहुँचते हैं। क्योंकि क्या याज्ञवल्क्य ठीक दूसरे ही श्लोक में यह जोड़ने की शीघ्रता नहीं करते कि उनका निश्चित रूप से किसी पहेली का अर्थ नहीं था[2] क्योंकि, यदि एक बार ही पारमार्थिक तथा व्यावहारिक यथार्थ के स्वरूप भेद को वस्तुतः समझ लिया जाता है, तब यथार्थ में कोई भी पहेली शेष नहीं रह जाती। चेतना के ह्रास का भय वस्तुतः उसी रूप में प्रयोजित नहीं है जैसा कि ड्यूसेन उसे प्रयोजित मान लेते हैं। ब्रह्मसूत्र १ ४ २२ तथा बृहदारण्यकोपनिषद् के शांकर भाष्य से यह पर्याप्त रूपेण प्रमाणित हो जाता है। शांकर ने यह स्पष्ट ही कहा है कि चेतना के ह्रास से यह भय प्रयोजित है कि 'कोई विशिष्ट चेतना अब वहाँ नहीं है' न कि यह कि 'चेतना का वहाँ सम्पूर्ण अन्त हो जाता है। विशिष्ट चेतना का ह्रास तो तब भी देखा जाता है, जब कि आत्मा शरीर में ही होती है, जैसे कि प्रगाढ़ निद्रा में, किन्तु इस कारण कोई यह नहीं सोचता कि आत्मा अचेतन है। शांकर भाष्य से उद्धृत अंश केवल यही कहना चाहता है कि आत्मा के शरीर से विदा होने पर सम्पूर्ण

१ बृह० २४१२।

२ डा० जोहन्स्टन अर्ली साख्य पृष्ठ, ५५। योग और सांख्य दोनों दर्शनों ने केवल यह कहकर समस्या से बचने का प्रयास किया है, कि याज्ञवल्क्य की 'न प्रेत्य सज्ञास्ति' की घोषणा ने मैत्रेयी को आश्चर्यचकित कर दिया था, कि पुरुष जब उसका, जो बुद्धि उसके समक्ष प्रस्तुत करती है, ज्ञान बोध करता है तब वह वास्तविक ज्ञानानुभव के बिना ही, उसे उस तरह प्रतिबिम्बित करता है कि जैसे उसे ज्ञानानुभव हो रहा है। इस कारण सुनिश्चित शब्दों में यह कहा जा सकता है कि वह पुरुष न 'ज्ञ' है न 'अज्ञ' है।

विशिष्ट ज्ञान विलीन हो जाता है न कि यह कि स्वयं आत्मा ही विनष्ट हो जाती है। विशिष्ट ज्ञान परम यथार्थ के अज्ञान या अविद्या के साथ संयुक्त होने के कारण घटित होते हैं और जब कि यह संयुक्तता विच्छिन्न हो जाती है जैसा कि प्रगाढ़ निद्रा में भी होता है, तो फिर उनके और घटित होने का कोई कारण नहीं रह जाता है। किन्तु द्रष्टा की दृष्टि शक्ति तो नित्य है और कभी विनष्ट नहीं होती।

यह अनुभव होता है कि 'न प्रेत्य संज्ञास्ति'[1] तथा 'द्रष्टा की दृष्टि में किसी अन्तराल का कोई अस्तित्व नहीं है'[2] का समन्वय करने के कोई प्रयत्न नहीं किए गए हैं जो कि, यदि निरपेक्ष चेतना के प्रति औपनिषदिक सिद्धान्त को ठीक से समझा जाए, तो प्रकटतः किसी तरह के विपरीत वक्तव्य नहीं हैं। विशिष्ट ज्ञान के अस्वीकार से न तो यह अर्थ उपलक्षित है कि उस अवस्था में किसी प्रकार के ज्ञान का अस्तित्व ही नहीं है और अतएव परम सत् अचेतन है (ड्यूसेन), और न यह कि न वह चेतन है न अचेतन है (गो स्टन)। परम चेतना के स्वरूप के प्रति सदर्भित वक्तव्यों का स्पष्ट अर्थ यह प्रतीत होता है कि परम यथार्थ अनुभवात्मक रूप से अनिर्देश्य है और सामान्य ज्ञान के स्तर से ली गई कोई भी धारणा उसे वर्णित करने में सक्षम नहीं है। आधुनिक विज्ञानों में हमें इसके अनेक समान दृष्टान्त मिल जाते हैं। सामान्य ज्ञान की भाषा उप-आणविक तथा सूक्ष्म भौतिक स्तर वस्तु को उचित रूप से व्यक्त करने, या उस दृष्टि से, परम भौतिक यथार्थ के किसी भी आधुनिक भौतिक सिद्धान्त को वर्णित करने में असमर्थ है। इसी तरह की कठिनाई या नितान्त असम्भावना परम आधारभूत चेतना को वर्णित करने में आती होगी। इसलिए व्यावहारिक विचार की भाषा में परम और उच्चतम यथार्थ का वर्णन उस प्रकार नहीं किया जा सकता है जिस प्रकार कि वह किसी परम वैज्ञानिक घटना के माध्यम वर्णन कर सकती है। दैनिक जीवन की भाषा या जीवन के व्यापार में है उसे पूर्ण वर्णन में यदि थोड़ी पड़ जाती है तो इसमें आश्चर्य करने जैसा कुछ भी नहीं है।

---

१ ड्यूसेन सिस्टम आफ वेदान्त, पृष्ठ ११५, चेतना आत्मा के स्वरूप के लिए अनिवार्य है, किन्तु यह चेतना भी मूल में आकस्मिक है क्योंकि अज्ञानजन्य (विकारक प्रत्यक्षीकरण) के समय उपकरण मन को आत्मा से पृथक करके उसे आदमी के शारीरिक भाग से सम्बद्ध करता है।

२ बृहदारण्यक २४ ११।

पाश्चात्य विचार से भिन्न, हिन्दू विचारक यह मानते हैं कि अनुभव, जो कि हमेशा ही व्यावहारिक होता है, ज्ञान की सर्वान्तिम धारणा नहीं है। हिन्दू विचार में सदैव उसकी ही खोज रही है जो कि सर्वानुभवों की पृष्ठभूमि में है और इस कारण उसे स्वयं अनुभूत हो जाने से अनिवार्यत बच ही जाना चाहिए। अनुभव की पूर्ण पूर्वकल्पना स्वयं अनुभव की विषय नहीं हो सकती है। अनुभव लौकिक अस्तित्व से सम्बद्ध दृष्टि विषयक यथार्थ है। उसका तात्विक स्वरूप द्वन्द्वात्मक पक्षों की अस्थिरता से सगठित है और इस कारण उस सत्यावस्था को, जो द्वन्द्व की पहुँच से परे और अतीत है, अनुभव की आस्थिरताओं में नहीं जाना जा सकता है। बृहदारण्यक कहता है कि ज्ञाता यथार्थ में ज्ञेय हो ही कैसे सकता है।[1] उपनिषद या सांख्य योग, चाहे परम सत् की चिरन्तन पहेली को हल करने में उनकी अन्य खामियाँ या कठिनाइयाँ कुछ भी क्यों न हो, आत्मा की चेतना की समस्या से पलायन कदापि नहीं करते हैं। इसके ठीक विपरीत, यह उनकी सुनिश्चित खोज है कि पारमार्थिक यथार्थ यद्यपि चेतना के स्वरूप जैसा है तब भी व्यावहारिक अनुभव से परे प्रयत्नों का असफल हो जाना स्वाभाविक है।

इस तरह समस्या से पलायन के स्थान पर, उनके द्वारा एक सुनिश्चित उत्तर दिया गया है कि परम आंतरिक यथार्थ को अनुभव की साधारण प्रणाली से भिन्न अन्य मार्ग द्वारा निश्चय ही अनुभव किया जा सकता है।

डॉ० जौहन्स्टन की व्याख्या से जिस दूसरे प्रश्न का उद्भव होता है वह यह है कि पुरुष वस्तुत 'ज्ञ' है या अज्ञ है, जिसके जवाब में उन्होंने प्रस्तावित किया है कि वह दोनों ही नहीं है। यह उत्तर, जैसे कि परम यथार्थ से सम्बन्धित सम्पूर्ण उत्तर होना चाहिए, सही और गलत दोनों ही है। कोई, ठीक इसी तरह यह भी कह सकता है कि वह 'ज्ञ' और अज्ञ दोनों ही है। यह उत्तर कि वह 'ज्ञ' नहीं है इस कारण सही है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञानयुक्त होने के अर्थ में वह चेतन नहीं है, और यह वक्तव्य भी, कि वह अज्ञ नहीं है, इस अर्थ में सही है कि वह जड़ घट की तरह अचेतन नहीं है।

इस वक्तव्य का कि वह न 'ज्ञ' है न अज्ञ है, एकमात्र अर्थ यही है कि यह विचार की इन दोनों श्रेणियों से समान रूप से बाहर पड़ता है क्योंकि ज्ञेय विषयों की भी श्रेणि में अन्तर्गत उसे नहीं रखा जा सकता है। और यदि कोई वस्तु स्वरूपत ज्ञेय विषयों की श्रेणियों से अतीत है, तब उसके

१ बृहदारण्यक, ४ ५ १५

सम्बन्ध में उचित विधेयों का निर्माण स्वाभाविक रूप से असम्भव है। जिसका भी विचार कर पाना संभव है वह निश्चय ही ब्रह्म नहीं है।[१] किन्तु परम यथार्थ की इस अबूझता की चित् या 'ज्ञ' स्वरूप के साथ, पूर्णरूपेण संगति है। पारमार्थिक रूप से ब्रह्म 'ज्ञ' या चिन्मात्र है। इस तथ्य को अविराम रूप से दुहराया गया है। नित्य साक्षी या द्रष्टा या दृष्टिमात्र का केवल यही अर्थ है कि परम यथार्थ चिरन्तन रूप से सचेतन है कूटस्थ साक्षी नित्य चैतन्य स्वरूप। उसे, इस कारण ही विज्ञानघन कहा गया है।[२]

औपनिषदिक एवं सांख्य योग चिन्तन का समस्त झुकाव, निश्चितरूप से आत्मा या पुरुष के परम आध्यात्मिक स्वरूप, शुद्ध बोध स्वरूप, या शुद्ध चित् को अभिव्यक्त करता रहा है। डॉ० जोह्नस्टन के वक्तव्य को कि वह न 'ज्ञ' है, न 'अज्ञ' है, उपरोक्त विवेचन के प्रकाश में इस तरह समझा जाना चाहिए कि वह केवल अनुभवमूलक रूप से ही 'ज्ञ' और 'अज्ञ' नहीं है। वस्तुतः एवं स्वयं अपने आप में वह शुद्ध चित्, शुद्ध चेतना है। वह स्वयं अपने स्वरूप में और स्वाधार पर केवल चित् शक्ति के रूप में ही अस्तित्व रखता है। वह स्वप्रकाशक है, स्वयं ज्योति है, तथा स्वबोध है।[४]

पूर्वगामी विवेचन से यह भी अनुमित नहीं किया जा सकता है कि परम यथार्थ का स्वरूप अज्ञेय है क्योंकि उसका निश्चित ज्ञान नहीं प्राप्त है, यद्यपि यह ज्ञान अनुभवाश्रित नहीं है। वह अप्रमेय है अर्थात् परोक्ष ज्ञान के विषय की तरह यद्यपि वह ज्ञेय नहीं है, किन्तु फिर भी ज्ञान की अपरोक्ष क्रिया में सिद्ध होने के रूप में वह ज्ञात भी है।

इस कारण यह निष्कर्ष कि परम चेतना का ज्ञान नहीं है, क्योंकि वह बाह्य या आंतरिक इन्द्रियों में से किसी का भी विषय नहीं है उतना यथेष्ट पूर्ण नहीं है, क्योंकि प्रकाशित वस्तुएँ या रंग ही केवल देखे जाते हैं स्वयं प्रकाश का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। इसके विपरीत, आत्मा का स्वरूप उनके लिए निश्चय ही सुविज्ञेय है, जिनके हृदय पवित्र हैं और जिनके मन बाह्य विषयों के प्रति अनासक्त हो गए हैं। वस्तुतः प्रत्येक की आत्मा का अनुभवातीत स्वरूप निरन्तर अस्तित्व में रहता है किन्तु वह केवल उन्हीं

---

१ शांकर भाष्य १ २ २२।
२ बृहदारण्यक ४ ३ ११, ४ ३ ३० ४३ ३ ३१।
३ बृहदारण्यक ४ ५ १३।
४ वाक्यवृत्ति २०।

नावरण में दबा हुआ है। इस आवरण को हटाये बिना कोई भी उपलब्धि सम्भव नहीं है। हम शंकर के गीता भाष्य में पढ़ते हैं कि यदि किसी का सत्यात्मा अज्ञात है, तब किसी भी वस्तु की प्राप्ति के उसके समग्र प्रयास और व्यापार अर्थहीन हो जाते हैं।[१]

इस कारण उपरोक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यद्यपि निरपेक्ष चेतना व्यावहारिक रूप से अविशेष्य है, तथापि वह अज्ञात नहीं है। उसका स्वरूप, अचित् के विपरीत, 'प' या शुद्ध चित् का है। वह बुद्धि के परिवर्तनशील रूपों का नहीं है जिनका अनुभव कि हमें दैनिक जीवन की परोक्ष चेतना में होता है, बल्कि उस नित्य अपरिवर्तनशील और आधारभूत चित् का है जो कि संपूर्ण विभेद और अनेकत्व की आधारभूत पूर्व कल्पना है।

---

१ बृहदारण्यक शांकर भाष्य ४ ४ २०।

तृतीय अध्याय

चेतना का सत्तामीमांसात्मक स्वरूप

चेतना क्या है ?

यह प्रश्न प्रस्तुत करना आवश्यक है कि आखिर चेतना है क्या ? स्वानुभूति के परम सिद्धान्त के सम्बन्धों में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देना अत्यन्त कठिन कार्य है और चेतना इसी प्रकार की एक परम धारणा है। किन्तु हमें उसे किन्हीं न किन्हीं शब्दों में सोचना पड़ता है और विचार के हम या उस सामान्य वर्गीकरण में उसे द्रव्य गुण या कर्म किसी के अन्तर्गत रखकर विवेचित करना होता है। हिन्दू दर्शन इस परम चेतना के विवेचन को समस्त सम्भवनीय विकल्पों में प्रस्तुत करता है। चेतना को द्रव्य गुण या कर्म और चिरन्तन एवं अपरिवर्तनीय की तरह, या फिर परिवर्तनीय और क्षणिक या गुण, किंवा रूप से विषयी और विषय के मिलन में विकास तथा संबंध विषय वस्तु सहित विभिन्न रूपों में प्रस्तुत और प्रतिपादित करता है।

इन सम्पूर्ण विभिन्न और विरुद्ध विचारों को यथार्थवाद और प्रत्ययवाद के दो स्थूल विभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। यथार्थवादी की मान्यता है कि चेतना का उद्भव कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के संयोग के फलस्वरूप होता है और संयोगावधि के अनुसार यह कम या अधिक समय तक अस्तित्व में रहती है। यह नित्य रूप से वर्तमान नहीं है और न परिस्थितियों के संयोग से स्वतन्त्र है। यथार्थवादियों के मत को भी पुनः दो और उप विभागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। वस्तुवादी यथार्थवाद और आत्मवादी यथार्थवाद। वस्तुवादी यथार्थवाद का प्रतिनिधि, चार्वाक दर्शन चेतना को केवल भौतिक तत्त्वों के संयोग रूप की तरह ही स्वीकार करता है, जब कि आत्मवादी यथार्थवाद का प्रतिनिधि दर्शन, न्याय वैशेषिक, भौतिक द्रव्यों से भिन्न एक आध्यात्मिक द्रव्य आत्मा, में भी अपना विश्वास प्रकट करता है। इनकी मान्यता है कि चेतना का उद्भव सर्वप्रथम आत्मा के साथ मनस् इन्द्रियों और विषयों आदि के संयोग से ही होता है यद्यपि उसका संबंध केवल आध्यात्मिक द्रव्य, आत्मा से ही होता है जिसका कि यह एक गुण मात्र है। किन्तु प्रत्ययवाद भी चेतना को

निरन्तर या सदैव ही धारण नहीं करती है। क्योंकि मुक्तावस्था में वह अपने समग्र गुणों से रिक्त होती है। इन गुणों में चेतना का गुण भी सम्मिलित होता है जिसे कि वह मनस् इन्द्रियों और विषयों के साथ संयुक्त होने पर ही केवल ग्रहण करती है।

यह प्रतीत होता है कि पदार्थवादी चार्वाक न्याय-वैशेषिक यथार्थवादी के मध्य का भेद केवल उनके एक अभौतिक द्रव्य या आत्मा की धारणा के मानने या न मानने में ही सन्निहित है। इस बात में वे दोनों समानरूपेण सहमत हैं कि विशिष्ट परिस्थितियों के संयोग से पृथक चेतना का कोई अस्तित्व नहीं है, और चेतना किसी द्रव्य का केवल एक सांयोगिक गुण 'आगन्तुक' धर्म मात्र ही है। इसके ठीक विपरीत, प्रत्ययवादी अपनी आस्था एक स्वतन्त्र चेतना में प्रगट करता है, जो कि एक शुद्ध विषयवस्तु रहित और रूपहीन चित, 'ज्ञप्ति मात्र' की तरह चिरन्तन रूप से अस्तित्व में है। उसका न सृजन होता है, न विनाश और बिना किसी अन्य पदार्थ की सहायता के वह स्वाधिकार से ही सर्वत्र वर्तमान रहती है। रामानुज की तरह कुछ विचारकों का विश्वास है कि चेतना चेतनात्मा का एक अविभेद्य गुण धर्म है, जब कि शंकर की तरह अन्य लोगों की मान्यता है कि चेतना आत्मा का गुण नहीं बल्कि उसका स्वरूप ही है। सांख्य योग अद्वैत वेदान्त से इस धारणा में एकमत हैं कि चेतना चिरन्तन है तथा पुरुष अविभेद्य है। इसके साथ ही वे आत्मा को स्वयम्भू भी मानते हैं। उनकी दृष्टि में वह एक स्वनिर्भर यथार्थ है, जो किसी भी अन्य विषय से असदृश है। वह मात्र अस्तित्व या यथार्थता के गुण को छोड़कर सर्वगुणों में अद्वितीय है और इस कारण द्रव्य, गुण या कर्म की भाषा में पूर्णरूपेण अवर्णनीय है। उसकी सत्ता चिन्मात्र और सर्वचित्त के मूल स्रोत के रूप में है। वह विषयवस्तु शून्य, शुद्ध चेतनत्व है जिसमें अहम् 'मैं' या इदम् 'यह' का कोई बोध उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार चेतना के स्वरूप तथा अस्तित्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं।

१—उसका कोई अस्तित्व नहीं है। चेतना की तरह जगत् में किसी वस्तु की कोई सत्ता नहीं है। यह शून्यवादी दृष्टिकोण है।

२—वह केवल पौद्‌गलिक द्रव्यों का एक संयोग मात्र ही है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। पौद्‌गलिक द्रव्य ही केवल स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में है। यह चार्वाक दर्शन का दृष्टिकोण है।

३—यद्यपि चेतना की उत्पत्ति कुछ विषयों के संयोग से ही होती है, तथापि वह एक आध्यात्मिक द्रव्य का ही गुण है और उसका मुख्याधार

समवाय के सम्बन्ध से इस आध्यात्मिक द्रव्य में ही होता है। उसका जन्म होता है, उत्पत्ति होती है, तथा विनाश होता है। यह न्यायवैशेषिक पदार्थवादी दृष्टिकोण है।

४—चेतना एक चिरन्तन, शुद्ध, अविपरिणामी तथा विभेदहीन अनन्त यथार्थ है, जिसमें अन्तर्गत 'अहम्' और 'अ-अहम्' में किसी भेद का अस्तित्व नहीं है। उसकी सत्ता स्वतन्त्र और स्वयम् है। अनुभवातीत तथा आधारभूत चेतना का यह सिद्धान्त शांकर वेदांत और सांख्य-योग की प्रत्ययवादी दृष्टि की अभिव्यंजना करता है।[1]

५—चेतना एक नित्य एवं चेतन द्रव्य का नित्यगुण है जो कि सदैव ही अहम् और अ-अहम् के विभेद से चिह्नांकित है। यह रामानुजीय प्रत्ययवाद का दृष्टिकोण है।

चेतना की शून्यवादी अस्वीकृति

चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में अन्वेषण किसी के भी लिए उसके अस्तित्व की पूर्वमान्यता आवश्यक है, क्योंकि जिसका किसी भी अर्थ में कोई अस्तित्व नहीं है, उस पर कोई भी विवेचना सम्भव नहीं हो सकती। जिस वस्तु के अस्तित्व के खंडन का प्रयास किया जाता है उसे भी कम से कम विरोधी की यथार्थ धारणा के जगत में तो अस्तित्ववान् होना ही चाहिए। इस अर्थ में चेतना का खंडन सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि यह उसके अस्तित्व के खंडन के प्रयास में भी, उपलक्षित रूप से, स्वयं अपने होने को ही सिद्ध करती है। चेतना का पूर्ण अस्वीकार इस कारण स्वयं अपने आप में अविवेकपूर्ण है क्योंकि पूर्ण अस्वीकार स्वयं अपना ही अस्वीकार करता है और उस वस्तु की स्थापना पर समाप्त होता है जिसके निषेध के लिए कि वह चला था।[2]

माध्यमिक शून्यवादी द्वारा भी चेतना का अस्तित्व अस्वीकृत किया गया है, किन्तु यह केवल सर्वयथार्थ के सामान्य निषेध के सिद्धांत के एक भाग के रूप में ही हुआ है। इस दृष्टिकोण का उचित अध्ययन यह तुरन्त ही स्पष्ट कर

१ शंकर वेदान्त और सांख्य योग दोनों को उनके मध्य भिन्नताओं के बावजूद भी यहाँ प्रत्ययवादी के रूप में सामान्य परिप्रेक्ष्य इस अर्थ में लिया गया है कि वे दोनों ही शुद्ध चेतना के स्वतन्त्र और अपृथक् अस्तित्व में अपनी आस्था प्रकट करते हैं।

२ न्याय भाष्य, २ १ ११

देता है कि चेतना के पूर्ण अस्वीकार की प्रकृत बहुत कुछ उसके अनस्तित्व के घटनात्मक ज्ञान के बजाय उसके सुनिश्चित स्वरूप के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने के नैराश्य जैसी ही है।[१] शून्यवादी दृष्टिकोण अपने विशुद्ध निषेधात्मक रूप में परम यथार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में मस्तिष्क को अन्तिम शब्द की तरह आवर्जित नहीं करता। माध्यमिक दार्शनिक, जो कि चेतना के मूलाधार का ही खंडन करता है, इस तथ्य से स्वयं ही खंडित हो जाता है कि संपूर्ण अस्वीकार को अर्थपूर्ण होने के हेतु अपने तार्किक आधार की तरह किसी यथार्थ वस्तु में अवस्थित होना ही चाहिए।[२]

निषेध केवल उस स्थिति में ही सार्थक है जब उसके अतिरिक्त कुछ और भी अस्तित्व में शेष होता है, किन्तु जब प्रत्येक वस्तु का निषेध ही किया जाता है तो स्वयं निषेध भी निषेधित वस्तुओं में सम्मिलित हो जाता है। और इस प्रकार निषेध के कारण वही वस्तु यथार्थ हो जाती है जिसका कि निषेध किया गया था तथा इस प्रकार पूर्ण निषेध स्वयं ही अपने प्रयोजन को पराजित कर देता है। इस कारण ही शून्यवादी को भी कुछ का ज्ञान और यथार्थत्व मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है।[३] उसे कम से कम यह तो कहना ही पड़ता है कि अभाव का ज्ञान यथार्थ और नित्य है।[४] और अभाव के ज्ञान को स्वीकार करना तथा साथ ही समग्र ज्ञान की यथार्थता से इन्कार करना स्पष्ट ही अविवेकपूर्ण है। इस कारण संपूर्ण विषय आत्मपूर्वक है। चेतना का आस्तित्व प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व के पूर्व है और इसलिए किसी भी वस्तु के स्वीकार से वह पूर्वरूपेण स्वीकृत हो जाती है। इस अर्थ में वह ज्ञानमीमांसात्मक रूप से अनुभव निरपेक्ष तथा अनिषेध योग्य है।[५]

किसी ने कभी भी चेतना का अभाव या विनाश अनुभव नहीं किया है, क्योंकि यदि किसी ने वैसा अनुभव कभी किया है तो उस अनुभव के क्षण में उसे उसकी चेतना भी अनिवार्यरूपेण रही होगी।[६]

---

१ संकावतार सूत्र २ १७५

२ शांकर भाष्य, ३ २ २२

३ बृहदारण्यक शांकर भाष्य, ४ ३ ७

४ प्रश्नोपनिषद् शांकर भाष्य ६ ३।

५ शांकर भाष्य, १ १ १

६ देवी भागवत, ७ ३२ १५ १६

२ चेतनाओं के प्रति पदार्थवादी का दृष्टिकोण प्रत्येक पृथक् शरीर में अनेक ज्ञाताओं की निष्पत्ति की ओर ले जाता है।

३ शरीर और इन्द्रियाँ किसी अन्य के उतने ही नियन्त्रण में हैं जितने कि घट आदि हैं। मनस भी स्वयं से अन्य किसी के नियन्त्रणाधिकार में है, क्योंकि वह कुल्हाड़ी की तरह एक साधन मात्र से किञ्चित अधिक नहीं है। इस तरह शरीर, मनस्, और इन्द्रियां सभी किसी एक नियन्त्रण के अन्तर्गत हैं, जो कि वास्तविक ज्ञाता है।[1]

पौद्गलिक तत्वों से भिन्न, पुरुष के स्वतन्त्र और अपूर्व अस्तित्व के पक्ष में सांख्य कारिका भी इसी तरह के कारण प्रस्तुत करती है।[2]

चेतना के प्रति आध्यात्मिक यथार्थवादी दृष्टिकोण

न्याय वैशेषिक या आध्यात्मिक यथार्थवादी का चेतना के प्रति दृष्टिकोण दार्शनिक रूप से पदार्थवादी दृष्टिकोण से मुश्किल से ही श्रेष्ठतम कहा जा सकता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार चेतना तात्विक रूप से पदार्थ की उत्पत्ति नहीं है न किसी पौद्गलिक वस्तु का गुण ही है। यह यह विलोम की प्रक्रिया द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करता है। जयन्त अपने ग्रन्थ, न्याय मंजरी, में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चेतना परिशेषानुमान के अनुसार आत्मा से सम्बद्ध है। परिशेषानुमान अवशेषानुमान का एक प्रकार है[3] जिसके अनुसार किसी वस्तु या गुण को किसी एक विशिष्ट वस्तु से इस कारण सम्बन्धित बताया जाता है, क्योंकि वह किसी भी अन्य वस्तु से सम्बन्धित नहीं है। न्याय वैशेषिक विचारक इस कारण चेतना को आत्मा से सम्बद्ध बताते हैं क्योंकि वह शरीर के पौद्गलिक तत्वों में से किसी एक से या समग्र समूह से सम्बन्धित नहीं हो सकती है।[4]

आत्मा में चेतना के अधिष्ठान के निष्कर्ष पर श्रीधर भी इसी प्रकार के तर्क द्वारा पहुँचते हैं। वह प्रश्न उठाते हैं कि यदि आत्मा स्वरूपतः अचेतन है तब चेतना को मात्र, इन्द्रियों और विषयों के किसी अन्य संयोग में अधिष्ठित न मानकर आत्मा में ही अधिष्ठित मानने का क्या कारण है।

---

१ न्याय भाष्य ३ ३ ३७ ४०।

२ सांख्य कारिका, १७ सांख्य प्रवचन सूत्र ५ १२६ ३ २० २२ ६ १ २।

३ न्याय मंजरी पृष्ठ १३३ तथा न्याय कन्दली, ७३।

४ न्याय मंजरी पृष्ठ ४४१।

भी चेतना के समक्ष उपस्थित होता है, चेतना का उसके साथ तादात्म्य नहीं किया जा सकता और चूंकि पदार्थ केवल उस सीमा तक ही ज्ञेय पूर्ण है जब तक कि वह चेतना के समक्ष प्रदर्शित है, इसलिए चेतना को अनिवार्यतः पदार्थ से समग्ररूपेण भिन्न होना चाहिए और द्वितीयतः यह कि जो कुछ भी चेतना का विषय है वह चेतना की उत्पत्ति में एक पूर्वगामी तथ्य नहीं हो सकता। शरीरशास्त्री के लिए जिस प्रकार मांसल स्नायुओं के द्वारा प्राणभूत प्रक्रियाओं की व्याख्या करना अविवेकपूर्ण है, क्योंकि स्नायु प्राणभूत प्रक्रियाओं को नहीं, बल्कि यह प्राणभूत प्रक्रिया ही है जो स्नायुओं की गति को सम्भव बनाती है उसी प्रकार पदार्थवादी द्वारा चेतन प्रक्रियाओं की व्याख्या पौद्गलिक तत्त्वों की गति के संदर्भ में करना भी अविवेकपूर्ण है। किसी या सब ज्ञेय पदार्थों के संग्रह का कोई भी लक्षण चेतना में नहीं है। यह अपूर्व रूप से स्वयं और स्वयंभू है। किन्तु पदार्थवादी के लिए प्रत्ययवादी को यह प्रत्युत्तर देना तथा प्रतिपादित करना अभी भी सम्भव है कि उसे कोई भी कारण नहीं दीखता है कि चेतना मनोवैज्ञानिक रूप से *अनुभवाश्रित होते हुए भी ज्ञानमीमांसात्मक* रूप से प्रागानुभव क्यों नहीं हो सकती है।

किन्तु यह युक्ति चेतना के पूर्व भी कुछ मान लेती है जिसे कि वस्तुओं की व्याख्या में सम्मिलित नहीं किया जा सकता[1] क्योंकि यह चेतना की तार्किक प्रागनुभवता को पूर्व से ही प्रस्तावित करता है। ज्ञान के सम्पूर्ण विषयों का निर्धारण समय में होता है, जैसे अतीत, वर्तमान और भविष्य की संधियों के अन्तर्गत, किन्तु वह स्वयं जिसकी अपेक्षा में ये सामयिक निर्धारण सार्थक है, समयान्तर्गत नहीं हो सकता। वह एक चिरन्तन उपस्थिति सत्ता है। सर्वदा वर्तमानस्वभाव।[2]

पदार्थवाद की न्याय-वैशेषिक आलोचना

न्याय भाष्य (३ २ ३५–४०) चेतना के प्रति पदार्थवादी दृष्टिकोण की आलोचना प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार चेतना, निम्न कारणों से, पौद्गलिक तत्त्वों या उनके संयोग का गुण नहीं हो सकती —

१ क्रिया की उपस्थिति और क्रिया की अनुपस्थिति, इच्छा और अनिच्छा के सुभाव निर्देशक तत्त्व हैं, जिन्हें कि पुद्गल तत्त्वों के प्रति स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

---

१ ए० सी० मुकर्जी दि नेचर आफ सेल्फ पृष्ठ १३५।

२ शांकर भाष्य २ ३ ७ तथा भगवद्गीता शांकर भाष्य २ १८।

२ चेतनाओं के प्रति पदार्थवादी का दृष्टिकोण प्रत्येक पृथक् शरीर में अनेक ज्ञाताओं की निष्पत्ति की ओर ले जाता है।

३ शरीर और इन्द्रियाँ किसी अन्य के उतने ही नियन्त्रण में हैं जितने कि घट आदि हैं। मनस् भी स्वयं से अन्य किसी के नियन्त्रणाधिकार में है, क्योंकि वह कुल्हाड़ी की तरह एक साधन मात्र से किञ्चित अधिक नहीं है। इस तरह शरीर, मनस्, और इन्द्रिया सभी किसी एक नियन्त्रण के अन्तर्गत हैं, जो कि वास्तविक ज्ञाता है।[1]

पौद्गलिक तत्वों से भिन्न, पुरुष के स्वतन्त्र और अपूर्व अस्तित्व के पक्ष में सांख्य कारिका भी इसी तरह के कारण प्रस्तुत करती है।[2]

चेतना के प्रति आध्यात्मिक यथार्थवादी दृष्टिकोण

न्याय वैशेषिक या आध्यात्मिक यथार्थवादी का चेतना के प्रति दृष्टिकोण दार्शनिक रूप से पदार्थवादी दृष्टिकोण से मुश्किल से ही श्रेष्ठतम कहा जा सकता है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार चेतना तात्विक रूप से पदार्थ की उत्पत्ति नहीं है न किसी पौद्गलिक वस्तु का गुण ही है। वह यह विलोम की प्रक्रिया द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करता है। जयन्त अपने ग्रन्थ, न्याय मंजरी, में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चेतना परिशेषानुमान के अनुसार आत्मा से सम्बद्ध है। परिशेषानुमान अवशेषानुमान का एक प्रकार है[3] जिसके अनुसार कि किसी वस्तु या गुण को किसी एक विशिष्ट वस्तु से इस कारण सम्बन्धित बताया जाता है, क्योंकि वह किसी भी अन्य वस्तु से सम्बन्धित नहीं है। न्याय वैशेषिक विचारक इस कारण चेतना को आत्मा से सम्बद्ध बताते हैं, क्योंकि यह शरीर के पौद्गलिक तत्वों में से किसी एक से या समग्र समूह से सम्बन्धित नहीं हो सकती है।[4]

आत्मा में चेतना के अधिष्ठान के निष्कर्ष पर श्रीधर भी इसी प्रकार के तर्क द्वारा पहुँचते हैं। वह प्रश्न उठाते हैं कि यदि आत्मा स्वरूपतः अचेतन है, तब चेतना को मनस्, इन्द्रियों और विषयों के किसी अन्य संयोग में अधिष्ठित न मानकर आत्मा में ही अधिष्ठित मानने का क्या कारण है।

---

१ न्याय भाष्य, २ ३ ३७ ४०।

२ सांख्य कारिका, १७ सांख्य प्रवचन सूत्र, ५ १२६ ३ २० २२ ६ १ २।

३ न्याय मंजरी पृष्ठ १२३ तथा न्याय कदली, ७३।

४ न्याय मंजरी पृष्ठ ४४१।

इस वक्तव्य का अन्य वक्तव्यों से सामञ्जस्य बिठाना कठिन है, उदाहरणार्थ कि आत्मा अचेतन द्रव्य है, तथा शक्तियाँ और इन्द्रियाँ चेतना के अस्तित्व के कारण हैं।[१] एक ओर तो यह कहा गया है कि आत्मा नित्य है और यह सम्भव नहीं है कि किसी समय चित् की कोई धारा अस्तित्व में नहीं थी वहीं दूसरी ओर यह भी कि अन्तिम अवस्था में सवचेतना मूलत' ही समाप्त हो जाती है। आत्मा इन्द्रियो से सयोग के फलस्वरूप ज्ञाता है। जब इन्द्रियाँ अमयुक्त रहती हैं, तब ज्ञान का उद्भव नहीं होता।[२]

यह प्रतीत होता है कि चरक के अनुसार, अनुभव तथा क्रियात्मकता तथा जो कुछ भी दृश्य जगत् मे अन्तगत है, सभी के आधार में सम्पक का सिद्धांत निहित है। सम्पक के सिद्धान्त का स्थान चरक मे अन्य दशन प्रणालियों की अपेक्षा अत्यधिक महत्वपूर्ण है। आत्मा को उसकी विशुद्धावस्था मे अक्रिय माना गया है, किन्तु सम्पर्क से सब का उद्भव होता है, उसके अभाव मे कुछ भी नही हो सकता है।[३] यदि सम्पक के अभाव म कुछ भी नहीं हो सकता है तब स्वभावत चेतना का अस्तित्व भी सम्पर्क के ही कारण होना आवश्यक है। किन्तु, चूंकि चेतना अनादि है, इसलिए सम्पर्क को भी नित्य उपस्थित की तरह प्रस्तावित किया जाना आवश्यक दीखता है। और इसी कारण, हमें बताया गया है कि सम्पक आदि हीन है। और केवल उस समय ही समाप्त होता है जब आत्मा उसके स्वरूप की श्रेष्ठतम पवित्रता को प्राप्त कर लेती है।

इस तरह हम देखते हैं कि चरक का दशन अभी चेतना की नित्यता तथा सम्पर्क के सिद्धान्त के मध्य निर्णीत होने के सघर्ष में ही पड़ा हुआ है, और एक या दूसरे के पूर्ण विभाजन में अभी तक विभक्त नहीं हो सका है। पहले दृष्टिबिन्दु पर जोर वेदात के स्वतंत्र्य या साख्य योग के कैवलत्व में निष्पन्न होता है जब कि सम्पर्क के सिद्धांत पर बसा ही जोर चेतना को कुछ तथ्यों के सयोग की कृपा पर उत्पादित एक वस्तु मात्र के स्तर पर ले आता है। यह आत्मा द्वितीय स्थिति म अपनी नित्यता तथा स्वतत्रता खो देती है, जैसा कि न्याय-वशेषिक के साथ वस्तुत घटित होता है।

१ चरक सहिता सूत्र १ ५५।

२ चरक सहिता शरीर १ ५२।

३ शरीर १ ५५

यथार्थवादी की प्रत्ययवादी आलोचना

चेतना के न्याय सिद्धांत की प्रत्ययवादी आलोचना, आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध या समवाय सम्बन्ध के न्याय-सिद्धान्त के ऊपर आक्षेप पर ही मुख्यत आधारित है। न्यायानुसार आत्मा 'चिद्धर्म न तु चित् स्वभाव' है, तथा नित्य आत्मा ज्ञान के अनित्य धर्म का धर्मी मात्र है। आत्मा और ज्ञान के मध्य द्रव्य और गुण का यह सम्बन्ध प्रत्ययवादी को स्वीकार नहीं है। न्याय द्वारा प्रस्तावित, द्रव्य और गुण, गुण और गुणी, या धर्म और धर्मी के मध्य एक पूर्ण और कठोर विभाजन को प्रत्ययवाद स्वीकार नहीं करता है। आचार्य शंकर के अनुसार, समवाय सम्बन्ध में किसी को या तो यह मानना पड़ेगा कि एक सम्बन्ध दूसरे सम्बन्ध के द्वारा सम्बन्धित है और तब वह दूसरा सम्बन्ध भी किसी तीसरे सम्बन्ध से ही सम्बन्धित हो सकेगा जिसकी समाप्ति अनवस्था प्रसग मे होगी या फिर यह स्वीकार करना होगा कि सम्बन्ध जिन पदों को जोड़ता है वह स्वय उनसे किसी सम्बन्ध से सम्बन्धित नहीं होता जिसका फल उस सम्बद्धता का ही विनाश होगा जो दो पदों को जोड़ता है।[१] और इस कारण शंकर के अनुसार, स्थायी आत्मा और अस्थायी चेतना के मध्य समवाय-सम्बन्ध का सिद्धान्त सन्तोषजनक नहीं माना जा सकता। न्याय-वैशेषिक दर्शन हमारे ज्ञान में अन्तर्भावित एक स्थायी सिद्धांत की आवश्यकता का तो अनुभव करता है, किन्तु उसे यह भी अनुभव करना चाहिए कि ज्ञान या आत्मा के इस सिद्धान्त का केवल स्थायीरूप से उपस्थित होना ही नहीं, बल्कि स्थायीरूप से सचेतन होना भी आवश्यक है, अर्थात् उसमें चेतनत्व को उसका अविच्छेद्य स्वरूप होना चाहिए।

शांकर वेदांत, समवाय-सम्बन्ध को अस्वीकार करने के पश्चात्, उसके स्थान म आत्मा और चित् के मध्य तादात्म्य या एकरूपता के सिद्धांत को प्रस्थापित करता है। उसकी युक्ति है कि चित् और आत्मा के बीच का सम्बन्ध या तो विभिन्नता का होगा या एकरूपता का या एकरूपता और विभिन्नता दोनों का। आत्मा और चित् यदि पूर्णतया विभिन्न है तब उनम द्रव्य और गुण का सम्बन्ध नहीं हो सकता। सयोग के बाह्य सम्बन्ध के द्वारा भी उन्हें सम्बद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि वे पौद्गलिक वस्तुएँ नहीं हैं और अनवस्था दोष के कारण समवाय का आंतरिक सम्बन्ध भी उनके मध्य नहीं हो सकता। इस तरह, आत्मा और चित् भिन्न नहीं हो सकते। यह कहना कि व विभिन्न और एकरूप दोनों ही हैं स्व विरोधी वक्तव्य देना है, और

१ शांकर भाष्य २ २ १३, गौड़पाद कारिका शांकर भाष्य २ ५।

यदि दोनों एकरूप हैं तब यह कहने मे कोई अर्थ नहीं है कि एक दूसरे का गुण है। इस कारण शांकर वेदांत का निष्कर्ष यह है कि चित् और आत्मा तादात्म्य रूप हैं —'आत्मचैतन्योर् अभेद'।

विद्यारण्य का कथन है कि चेतना और आत्मा का समान तथा एक ही होना आवश्यक है, न कि विभिन्न जैसे कि न्याय तथा प्रभाकर सम्प्रदाय द्वारा माना गया है। कोई भी गुण द्रव्य के उद्भव से भिन्न और पृथक् उद्भूत नहीं होता। यह उसी तरह पैदा होता है जैसे कि ज्वाला की दीप्ति ज्वाला के साथ ही पैदा होती है।[१] आत्मा और ज्ञान के मध्य किसी वास्तविक विभेद को नहीं माना जा सकता है क्योंकि अन्यथा इस प्रकार की अभिव्यक्तियों को कि 'यह मेरे द्वारा ज्ञात है' गौण तथा लक्षणात्मक रूप से ही समझा जा सकेगा। अग्नि और उसकी दीप्ति के गुण यदि एक ही और तादात्म्यक् न होते, तब यह कहना कि यह अग्नि से प्रकाशित है, शाब्दिक अर्थ में सत्य नहीं हो सकता था, बल्कि उसे इन अर्थों मे विवेचित करना होता कि यह वस्तु काष्ठ से प्रकाशित है।[२] ज्ञान और आत्मा के सम्बन्ध के सम्बन्ध में भी यही सत्य हैं। कोई भी यह नहीं कहता है कि किसी विषय को आत्मा के ज्ञात गुण से जाना जाता है। यह आपत्ति भी नहीं उठाई जा सकती कि ज्ञान आत्मा से इस कारण तादात्म्यक नहीं हो सकता क्योंकि जहाँ ज्ञान अनवरत रूप से परिवर्तित होता रहता है वहीं आत्मा निरन्तर रूप से स्व समान ही बनी रहती है, क्योंकि ज्ञान की भाँति ज्ञान की विभिन्न स्थितियों में भी कोई भेद नहीं होता। ज्ञान का स्वरूप तो सर्वदा एक ही होता है परिवर्तित तो केवल विषय वस्तु ही होती रहती है।[३] इस तरह ज्ञान के पैदा होने तथा विलीन होने की समग्र प्रक्रिया को स्व-समान तथा एक ही चेतना के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित होने के तथ्य से समझाया जाना आवश्यक है।[४] हम जब भी ज्ञान के उत्पन्न तथा विलीन होने की चर्चा करते हैं, तब हम यह भूल जाते हैं कि हमारा अर्थ स्वयं ज्ञान से नहीं बल्कि केवल ज्ञान के विषय-वस्तु से ही है, क्योंकि चेतना

१ विवरण प्रमेय संग्रह ५८

२ विवरण प्रमेय संग्रह ५८ विवरण प्रमेय संग्रह ५७

३ विवरण प्रमेय संग्रह ५८

४ विवरण प्रमेय संग्रह ५८

के अस्तित्व का स्वयं कोई पूर्वगामी अभाव नहीं हो सकता, कारण कि वे सारे कार्य जिनका कि पूर्वाभास पाया जाता है, चेतना के ही विषय होते हैं।[१]

इस कारण, आत्मा और चेतना को एक मानना आवश्यक है। व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से, उस सीमा तक जहाँ तक हम चेतना का उपयोग आत्मा और विषयों के सम्बन्ध को निर्दिष्ट करने के लिए करते हैं, दोनों के बीच विभेद मान लिया गया है। किन्तु यह विभेद मात्र व्यावहारिक है और उस समय तक ही उचित है जब तक हम सरल रूप से ही उसका प्रयोग करते हैं और उस पर जोर नहीं देना चाहते,[२] जैसे कि हम वृक्षों की निकटता को पृथक बताने के लिए वन का प्रयोग करते हैं, किन्तु उनके सम्बन्ध को अस्पष्ट ही छोड़ देते हैं। चेतना को या तो आत्मा से पूर्णरूपेण अविच्छेद्य या फिर पूर्णरूपेण अनस्तित्ववान मानना आवश्यक है।[३] यह कहना कि चेतना एक नित्य द्रव्य का अनित्य गुण है, व्यर्थ है, क्योंकि वह तर्क और आलोचना के समक्ष ठहरने में समर्थ नहीं है। यह निश्चय ही आश्चर्यजनक है कि आत्मा का, जो कि चेतना का आधार है, स्वयं अपने ही अस्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए अपने ही गुण पर निर्भर होना आवश्यक है।

ज्ञान की निरन्तर परिवर्तित होती स्थितियाँ और आत्मा का एक अपरिवर्तनशील ज्ञान का सिद्धान्त, अनुभव में अन्तर्भावित दो अनिवार्य तत्व प्रतीत होते हैं। इन दोनों के मध्य का सम्बन्ध ही विवाद का प्रमुख विषय है। निश्चय रूप में यह प्रतीत होता है कि ज्ञान को पूर्णतया व्यवस्थित करने के लिए और न्याय वशेषिक यथार्थवाद द्वारा प्रतिपादित आत्मा और चेतना के सम्बन्ध पर पहुँचना आवश्यक है। अचेतन आत्मा के सिद्धान्त में, जिसमें आत्मा अपनी ज्ञान यात्रा पर कोरी तख्ती की तरह अग्रसर होती है और अपने सम्पूर्ण बौद्धिक साज-बाज के लिए ज्ञान के विशिष्ट और अस्थायी टुकड़ों पर निर्भर करती है, हमें सार्वभौम धारणाओं के ज्ञान या सम्बन्धों या आत्मा की वैयक्तिक एकरूपता, किसी की भी सन्तोषजनक व्याख्या प्राप्त नहीं होती। आत्मा की अचेतन नित्यता ही यह सब कुछ है जिसे प्रतिपादित करने के लिए न्याय अन्ततः विनीत है किन्तु एक अचेतन आत्मा तथा आत्मा में बाहर से उत्पन्न ज्ञान घटनाओं की क्षणिक

---

१ विद्यारण्य द्वारा उद्धृत

२ सुरेश्वराचार्य का कथन

३ नैष्कर्म्य सिद्धि २ ५९

और तर्कावर्तपूर्ण धारा से हम ज्ञान की व्याख्या करने में किसी भी तरह सफल नहीं हो सकते।

इस स्थल पर हम ज्ञान की स्थितियों और संभावनाओं के विस्तृत विवेचन में प्रविष्ट नहीं हो सकते। इसलिए इतना इंगित करना ही यहाँ यथेष्ट है कि ज्ञान के एक सन्तोषप्रद सिद्धान्त के लिए चेतना की नित्यता, आत्मा की नित्यता के सदृश ही, आवश्यक और न्याय दर्शन के मूल ज्ञान को उसके सगठक अनिवार्य तत्वों में से केवल एक से समझाने के प्रयास में निहित है।

अद्वैत दर्शन की यह आग्रहपूर्ण मान्यता है कि आत्मा को ही केवल नित्य नहीं होना है, बल्कि चेतना की नित्यता भी धारण करना उसके लिए आवश्यक है क्योंकि अन्यथा, वह अनिवार्य रूप से प्रकृति के एक अचेतन सिद्धान्त मात्र में परिणत हो जायगी। पारमार्थिक दृष्टि से चेतना और आत्मा में कोई भेद करना सम्भव नहीं है, जिसे कि व्यावहारिक रूप से, चेतना के परिवर्तनमय तथा अपरिवर्तमय द्वि-अभिनय के अनुसार ग्रहण करना होता है। इस तरह, अद्वैतानुसार चेतना को आत्मा का विच्छेदनीय गुण किसी भी रूप में नहीं बनाया जा सकता है।

चेतना के स्वरूप के प्रति प्रत्ययवादी दृष्टिकोण

चेतना की यांत्रिक उत्पत्ति तथा परनिर्भर गुण के यथार्थवादी दृष्टि-कोण के विपरीत हमें वेदान्त और सांख्य योग का प्रत्ययवादी या अनुभवातीत दृष्टिकोण प्राप्त होता है, जिसके अनुसार चेतना न तो किसी सम्पर्क की उत्पत्ति है, और न आत्मा का गुण ही है। इस दृष्टि बिन्दु के अनुसार चेतना आत्मा का मूल तत्व है, वह उसका धर्म नहीं, स्व रूप है। वह स्वयं अपने अधिकार पर स्वतन्त्ररूपेण अस्तित्ववान है। आत्मा ज्ञान की क्रिया का कर्त्ता नहीं है, बल्कि स्वयं ज्ञान ही है। इस कथन में कि वह जो चमकता है, सूरज है जिस तरह वस्तुतः यही अर्थ प्रयोजित है कि ज्ञान आत्मा की क्रिया मात्र नहीं है बल्कि वह उसका आंतरिक स्वरूप ही है।[१]

सांख्य का पुरुष भी, इसी तरह, केवल चेतनत्व है। वह एक अस्तित्ववान वस्तु है। वह न उत्पादित है न किसी कारण का कार्य है, बल्कि अपने स्वाधिकार से ही यथार्थ है। वह न कोई भ्रांतिजन्य धारणा है अरो

१, छांदोग्य ८ १२ ५ शंकर भाष्य

-न मात्र सद्रूपीकरण है। वह साकार है किन्तु अनुभव निरपेक्ष है।[1] वह स्वप्रकाश और चित् के एक अपरिवर्तनीय सिद्धान्त की तरह, जिसमें कोई परिवर्तन, क्रिया, या सुधार सम्भव नहीं है, नित्यरूप से सत्तावान है।[2]

प्रत्ययवादी की अनुभवातीत चेतना को स्वयं उसके परिवर्तित रूपों से पृथक् करना आवश्यक है। बुद्धि चेतना के इन रूपों-भेदों का सिद्धान्त है। यह बुद्धि, या रूपांतरित चेतना ही ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के सामान्य विभेदीकरण का स्रोत है। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के सामान्य भेदों मे चैतन्य का विभाजन, जिसे कि अनुभववादी भूल से चेतना का परम स्वरूप ही समझ लेता है, केवल रूपातरित चेतना (चित्तवृत्ति) का ही स्वभाव है। बुद्धि के सत्व म परम चेतना का प्रतिफलन इस विभेदीकरण का कारण है। यह विभेद स्वय चेतना या चिन्मात्र के स्वरूप का अग नहीं है। उसका सम्बन्ध केवल बुद्धि से ही है और इस कारण ही उसे गुहा कहकर सम्बोधित किया गया है।[3] ज्ञान को केवल ज्ञाता से सम्बद्ध प्रतिपादित किया गया है, क्योंकि ज्ञाता का ज्ञान से पृथक या भिन्न कोई अस्तित्व नही होता है।[4]

यह चेतना या ज्ञान, जो कि आत्मा का स्वरूप है, विभेदनीय गुण या क्रिया के स्वभाव का नहीं है। केवल भाषा की आवश्यकता के अनुरूप ही सूरज के चमकने की स्थिति की तरह हम उसका वर्णन विषयी के ज्ञान के रूप में करते हैं। किन्तु चेतना को इस रूप मे प्रस्तुत करना आवश्यक तथा अपरिहार्य होते हुए भी सत्य नहीं है। वह एक असत्य प्रतिनिधित्व से अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता जिसका उद्भव विवेचनात्मक विचार शक्ति की सीमाओं के कारण होता है। उसका, स्वभाव, इस कारण, एक लक्षणात्मक प्रतिमा मात्र जसा है, जिससे कि अनुभवातीत चेतना का निर्देश ही हमारे लिए केवल मिलता है जिसके अन्दर कि स्वय किसी प्रकार के भेद का कोई अस्तित्व नहीं है। विवेचनात्मक विचार और भाषा की परम चेतना के स्वरूप को अभिव्यक्त करने की नितान्त अक्षमता के कारण ही

---

१ शाकर भाष्य २ १ १६। द्रष्टव्य साख्य कारिका पर तत्व कौमुदी ५. यशारदी ४ २२ १ ४ २ ६ १८ २०। योग भाष्य १ ६ ७।

२ चित्सुखी १ ७ ३।

३ सतरीय शाकर भाष्य।

४ सतरीय शाकर भाष्य।

इस रीति को ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है, क्योंकि जो कुछ भी ज्ञात होता है वह उस बुद्धि से ही प्राप्त होता है जो कि उसे केवल भेदों में ही ग्रहण कर सकती है। इस कारण चेतना के प्रति प्रत्ययवादी दृष्टिकोण के निम्नलिखित महत्वपूर्ण बिन्दु हमें प्राप्त होते हैं

(१) कि चेतना सर्वज्ञाता (ग्राहक), ज्ञान का गुण (ग्रहण) ज्ञान का विषय (ग्राह्य) इन सब के सम्पूर्ण भेदों की परम पूर्व कल्पना है और स्वयं भेदरहित तथा एक है।

(२) कि, चेतना आत्मा का गुण धर्म नहीं है। वह ऐसा कुछ भी नहीं है जो आत्मा द्वारा ग्रहण कर लिया गया है। वह स्वयं आत्मा ही है।

(३) कि, परम चेतना द्रव्य, गुण या कर्म की किसी भी राशि के अन्तर्गत नहीं आती है। वह सबका आधारभूत यथार्थ है।

(४) कि, चेतना किसी भी अन्य वस्तु से पूर्णरूपेण भिन्न है। वह अपूर्व और अद्वितीय है।

(५) कि वह किसी संघात परिस्थियों के संयोग, या सामग्री की उत्पत्ति नहीं है।

(६) कि, किसी वस्तु की उत्पत्ति तथा आगे किन्हीं इकाइयों में विभाजनीय न होने के कारण वह नित्य, अनुत्पादित, अनन्त तथा असीम है। उसमें कोई जटिलता नहीं है। स्वप्रकाशन उसका स्वरूप है।

तथा (७) कि चेतना और उसके विषय में एक अन्तर स्वभावगत भिन्नता है। जहाँ प्रथम सामान्य और नित्य है वहाँ द्वितीय विशिष्ट और परिवर्तनशील है।

चेतना के स्वरूप पर मीमासा दृष्टिकोण

चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन का दृष्टिकोण इतना अधिक विकसित नहीं है कि उस पर आलोचनात्मक रूप से विस्तार से विचार किया जा सके। तत्वमीमांसा मीमांसा की प्रमुख वृत्ति नहीं रही है, किन्तु तब भी चेतना के स्वप्रकाशी स्वभाव के सम्बन्ध में उसने एक महत्वपूर्ण विचार विकसित किया है, जिसके कारण कि चेतना के स्वरूप के अध्ययन में से उसे एक महत्वपूर्ण स्थान स्वभावतः उपलब्ध हो गया है। मीमांसानुसार, चेतना स्व अभिव्यजक विचार का साक्षात् एवं अपरोक्ष प्रकाशन है। वह स्वयं अपने को, ज्ञाता और ज्ञेय को प्रकाशित करती है।

प्रभाकर मीमासा के अनुसार प्रत्येक ज्ञान की एक त्रिपुटी सवित् है। है। इस त्रिपुटी सवित् में (१) विषय सवित, (२) अहम सवित् और (३) स्व सवित् अन्तर्भावित रहते हैं।

चेतना का स्वरूप दीपक के प्रकाश की भाँति है। वह एक ही बार म न सिर्फ बाह्य विषय को बल्कि स्वय को तथा उसके आधार आत्मा या अहम को भी उसी तरह प्रकाशित करती है जसे कि दीपक किसी विषय को, स्वय को, तथा स्वय के आधार वर्तिका को भी प्रकाशित करता है।

इस प्रश्न का कि चेतना स्वयं अपने आप में क्या है, अर्थात उसका स्वरूप क्या है मीम सा द्वारा प्रस्तुत उत्तर यह है कि वह कम या आत्मा की क्रिया है। वह आत्मा की क्रिया ज्ञान क्रिया है जो विषयो में ज्ञातता उत्पन्न करती है और जिसके कारण कि ये ज्ञेय बनते हैं। वेदान्त दर्शन की भाँति चेतना को यहाँ आत्मा का पर्यायवाची नहीं माना गया है। मीमासा में चेतना और आत्मा के बीच एक विभेद को सवदा मान्यता दी गई है, और दोनो के मध्य के सम्बन्ध को कर्ता और कम के बीच का सम्बन्ध प्रतिपादित किया गया है। न्यायवशेषिक के लिए चेतना एक यांत्रिक प्रक्रिया का फल है, क्योंकि वह आत्मा में किसी भी प्रकार की गतिमयता को स्वीकृत करने में असमथ है, कारण उसकी दृष्टि में आत्मा पूर्णरूपेण निगु ण है। इस प्रकार, न्याय वशेषिक में चेतना आत्मा से आधारभूत रूप से सम्बद्ध नही है। किन्तु मीमासा दशन चेतना को आत्मा का कम मानकर न्याय दशन की अपेक्षा चेतना को आत्मा से अधिक आधारभूत रूप से सम्बद्ध बनाती है, यद्यपि अन्तत इस सिद्धान्त में भी न्याय के अनुरूप ही आत्मा चेतन और अचेतन दोनों ही हो जाता है, जसे कि खद्योत प्रकाशित और अप्रकाशित दोनों ही रूपों मे होता है।

मीमांसा चेतना और आत्मा के विभेद पर इन सरल कारणों से आग्रह करता है कि प्रथमत प्रगाढ़ निद्रा में कोई चेतना शेष नहीं रहती है, यद्यपि आत्मा को उस समय भी अस्तित्व में मानना पड़ता है और द्वितीयत यह कि मुक्ति की परमावस्था मे आत्मा को ज्ञान तथा आनन्द दोनो से ही विरहित मानना आवश्यक है।

इन दोनों कारणो का प्रत्ययवादो द्वारा इस आधार पर विरोध किया जाता है कि यदि इन कारणों को स्वीकार कर लिया जाय तो आत्मा को अचेतन बनाने तथा चेतन होने के लिए परिस्थितियों के यांत्रिक सयोग की

कृपा पर छोड़े बिना, ज्ञान तथा आत्मा के बीच किसी भी प्रकार के सम्बन्ध का अन्वेषण करना असम्भव हो जाता है।

किन्तु, चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में मीमांसा दर्शन का महत्व उस अत्यधिक जोर में निहित है जो उसने चेतना के स्वप्रकाशी स्वभाव पर एक अपूर्व तथा किसी अन्य वस्तु से असमान पदार्थ की तरह डाला है। चेतना के स्वप्रकाशी स्वरूप के सम्बन्ध में प्रभाकर की इसी असंदिग्ध घोषणा ने उसे न्याय से तीक्ष्ण रूप से पृथक कर दिया है और चेतना के प्रद्वत प्रत्ययवादी सिद्धान्त को और अधिक समर्थ तथा शक्तिशाली बना दिया है। न्याय दर्शन चेतना को, जो अन्य पदार्थों को जानती तथा प्रकाशित करती है, उसी तल पर रखता है जिस तल पर कि वह उसके प्रकाश म प्रकाशित पदार्थों को रखता है। न्याय की दृष्टि में जगत् विषयों और ज्ञानों की दो पृथक् संज्ञिया म विभाजित नहीं है। इस कारण जब कि विषय ज्ञान के द्वारा जाने जाते हैं, ज्ञान स्वय अपने ही द्वारा जाना जाता है। चेतना स्वय अपने प्रकाशन के सम्बन्ध में किसी भी अन्य विषय की तरह ही परनिर्भर है।

मीमांसा आविष्कृत करता है कि चेतना स्वप्रकाशन के सम्बन्ध में स्वय अपने ही परों पर खड़ी हो सकती है और इसने स्वय के ज्ञान या अन्य ज्ञानों पर निर्भर होना आवश्यक नहीं है। इस कारण, वह त्रिपुटी संवित् या ज्ञाता ज्ञेय और ज्ञान तीनों के ज्ञान के एक ही बोध म अशेष तथा सहज उद्घाटन के सिद्धान्त को प्रस्तावित करता है। चेतना के स्वतः प्रकाशत्व पर यह बल दर्शन को प्रभाकर सम्प्रदाय की एक विशेष देन है यद्यपि वह इस धारणा के साथ भी आत्मा और ज्ञान के विभेद के आग्रह पर न्याय दर्शन से सहमत है।[१]

चेतना के स्वरूप पर आचार्य रामानुज का दृष्टिकोण

रामानुज के अनुसार आत्मा नित्य है तथा उसका प्रकृत गुण चेतना भी शाश्वत है। वह चिद्रूप है तथा 'चैतन्य गुणक' भी है।[२] आत्मा चेतना

---

१ चेतना के स्वरूप के प्रति स्वतः प्रामाण्य का यह दृष्टिकोण जैसा कि प्रभाकर द्वारा प्रतिपादित है, एक उसी रूप में कुमारिल द्वारा स्वीकृत नहीं है। दोनों का भेद आगामी अध्याय में स्पष्ट हो जायेगा।

२ वही भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३०।

से सगठित है, जो उसका स्वरूप तथा उसी तरह उनका गुण दोनों ही है। वह चेतनत्व से ही परिपूर्ण है पर चेतना उसका गुण भी है।[१] आत्मा मात्र ज्ञान ही नहीं है बल्कि ज्ञान का विषयी भी है।[२] ज्ञान, ज्ञाता और विषयी से, जिसका कि वह गुण है, उसी तरह भिन्न है, जिस तरह कि सुगन्ध उस भूमि से भिन्न है जो कि उसका गुण दीख पड़ती है।[३] इस कारण, आत्मा का स्वरूप ज्ञान के रूप में विशुद्ध चैतन्य उतना उतना नहीं है जितना कि दीखता है। ज्ञान तो उसे कभी-कभी विषयों से सम्बन्धित करा देता है। यह ज्ञान चेतना सदैव सविभेद होती है, (न च निर्विषया काचित् समित्यस्ति)[४] और उसका रूप सर्वदा 'यह यह है' का तथा अनवरत रूप से परिवर्तनशील होता है।

इस प्रकार, रामानुज में आत्मा और चेतना के बीच सम्बन्ध की धारणा स्पष्ट नहीं है, क्योंकि चेतना आत्मा का नित्य स्वरूप तथा अनित्यगुण दोनों ही कैसे हो सकती है। रामानुज न्याय वैशेषिक यथार्थवादी और शांकर प्रत्ययवादी के मध्य का मार्ग ग्रहण करना चाहते हैं, जो कि सुचारु रूप से कार्यकारी प्रतीत नहीं होता है। न्याय-वैशेषिक ढंग पर यदि चेतना को आत्मा का अनित्य गुण बनाया जाता है तब उसका स्पष्ट फल आत्मा को, जब कभी भी वह उक्त गुण से विरहित होती है, अचेतन बताना होता है। यह दृष्टिकोण रामानुज को स्वीकार्य नहीं है क्योंकि उनके अनुसार आत्मा को किसी भी स्थिति में अचेतना नहीं विचार जा सकता। उसके लिए आत्मा न अचित् है न हो सकती है। इस कारण, आत्मा के चित्-स्वरूप की रक्षा के हेतु चेतना को आत्मा के साथ सह अस्तित्ववान् तथा आत्मा की भाँति ही नित्य बनाना आवश्यक हो जाता है। यह चेतना को आत्मा का केवल धर्म मात्र बना देने से नहीं हो सकता है इसलिए उसे उसका स्वरूप बताना अत्यन्त आवश्यक बन जाता है, किन्तु, इस स्थिति में आत्मा और चेतना में कोई भेद शेष नहीं रह जाता, और शंकर की स्थिति की ओर अग्रसर होते हुए दोनों पर्यायवाची बन जाते हैं।

रामानुज इन दोनों ही विकल्पों से बचने के लिये चिन्तित हैं, और इस लिए यह प्रतिपादित करते हैं कि आत्मा में चेतना उसके सत् और गुण दोनों

---

१ रामानुज भाष्य २ ३ २६।
२ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ २६।
३ रामानुज भाष्य २ ३ २७।
४ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ २६।

की ही तरह अवस्थित है। चेतना को गुण होना ही चाहिए क्योंकि उसके लिए आधार आवश्यक है और आत्मा को भी नित्य रूप से सचेतन होना चाहिए क्योंकि वह अचेतन नहीं हो सकता है। किन्तु गुण नित्य नहीं होता और जो गुण द्रव्य से नित्य रूप से सम्बद्ध है वह उसका गुण नहीं स्वरूप ही है, जैसे कि ताप अग्नि का है। इस तरह यह स्पष्ट दीखता है कि रामानुज जीव के 'ज्ञ-स्वरूप' के अपने अभीष्ट सिद्धान्त की तत्वमीमांसात्मक उपलक्षणाओं को उनके पूर्ण तार्किक अन्त तक नहीं ले जाते।

वह कहते हैं[२] कि संवित्, अनुभूति, तथा ज्ञान आदि पद 'सम्बन्धी शब्द' हैं (संविदानुभूति ज्ञानादि शब्द सम्बन्धी शब्द है, किन्तु सम्बन्ध की तत्वमीमांसा के परिणाम के सम्बन्ध में विचार करने के पूर्व ही वह रुक जाते हैं। आत्मा को यदि नित्यरूप से चेतन होना है तो चेतना के धर्म या गुण होने की परिकल्पना अनावश्यक है क्योंकि यह धारणा चेतना के आत्मा के स्वरूप होने की परिकल्पना में पहले से ही उपस्थित है। आत्मा की अचेतना ही, चेतना के आत्म स्वरूप होने के सिद्धान्त का विकल्प हो सकता है और जब कि एक बार यह स्वीकार कर लिया गया है कि धर्म या गुण से भिन्न और विपरीत चेतना आत्मा का स्वरूप या स्वभाव है, तब आत्मा और चेतना के तादात्म्य का अनुगमित होना भी अनिवार्य हो जाता है।

इस कारण, रामानुज का चेतना को धर्म या गुण मानने के साथ ही साथ आत्मा के चित्-स्वरूप की नित्यता को भी सिद्ध करने का प्रयत्न सफल होने से अत्यन्त दूर रह जाता है।

शंकर, प्रभाकर तथा रामानुज के दृष्टिकोणों में विभेद

प्रथमतः शंकर के लिए अभेदित चेतना ही सत् है।[१] सभेद चेतना सांयोगिक तथा भ्रान्तिपूर्ण है।[२] अहंकार का सिद्धान्त तथा ज्ञाता और ज्ञान का विभेद भी जो कि व्यावहारिक ज्ञान को अत्यन्त आधारभूत तथा प्रात्यतिक प्रतीत होता है भ्रान्तिपूर्ण है। यह भ्रान्तिपूर्णता अन्तःकरण आदि परिचित करानेवाली उपाधियों के कारण उत्पन्न होती है।[३] यह अहंकार जब अपने को प्रगाढ़ निद्रा या मुक्तावस्था में विलीन कर लेता है, तभी अविभाजित

१ शांकर भाष्य २ ३ ४०।

२ शांकर भाष्य १ १ ४, शांकर भाष्य गौड़पाद कारिका ४ ६ ७।

३ शांकर भाष्य १ ३ २।

चेतना अपने नित्य अपरिवर्तनशील प्रकाश में प्रकाशित होती है। इस तरह, यह केवल अविभाजित आत्मा ही है, जो कि वस्तुतः यथार्थ है। अहंकार उस पर आरोपित किया गया है। वह परम यथार्थ नहीं है और प्रगाढ़ निद्रा में भी उसका अस्तित्व नहीं रह पाता। द्वितीयतः, चूँकि शंकर चेतना तथा नित्यात्मा में कोई अन्तर नहीं करते हैं, इसलिए यह स्वभावतः अनुसरित होता है कि चेतना प्रगाढ़ निद्रा तथा मूर्च्छावस्था में भी वर्तमान रहती है। शंकर के दृष्टिकोण से विपरीत, प्रभाकर और रामानुज के लिए अहंकार आत्मा का निर्यांश है,[१] तथा आत्मा और वह दोनों तादात्म्यक हैं। प्रभाकर और रामानुज दोनों ही अस्वीकृत करते हैं कि या तो अहं कभी विलीन भी होता है, अथवा चेतना प्रगाढ़ निद्रा में भी वर्तमान रहने के अर्थ में नित्य है। इस तरह, शंकर के लिए जब कि आत्मा और चेतना तादात्म्यक तथा आत्मा और अहं विभिन्न धारणाएँ हैं वहीं प्रभाकर और रामानुज के अनुसार स्थिति ठीक इसके विपरीत है। उनके लिए जब कि आत्मा और चेतना तादात्म्यक् नहीं है क्योंकि आत्मा मात्र चेतना ही नहीं, चेतना का विषयी भी है, वहीं आत्मा और अहं तादात्म्यक् है, क्योंकि 'मैं' की चेतना के अभाव में चेतना का अस्तित्व नहीं हो सकता है। अहं आत्मा पर भ्रांतिपूर्ण आरोपण नहीं बल्कि उसी प्रकार उसके स्वरूप का विधायक अंग है जिस प्रकार कि शंकरवादी के लिए विभेद तथा अहंहीन चेतना है। केवल इस एक बिन्दु पर ही तीनों विचारक सहमत हैं कि चेतना आत्मा का संयोगिक गुण नहीं है, जैसा कि न्याय वैशेषिक दर्शन द्वारा प्रतिपादित किया गया है बल्कि वह आत्मा से कहीं अधिक आधारभूत रूप से सम्बद्ध है।

पुनरावलोकन तथा आलोचनात्मक मूल्यांकन

शंकराचार्य तथा सांख्य-योग विचारक चेतना को स्वाधिकार से अस्तित्ववान् एक नित्य प्रकाश मानते हैं। यह नित्य प्रकाश-चेतना आत्मा या पुरुष के सत्य स्वरूप का संगठक है। वह न गुण है और न किसी का कर्म है बल्कि स्वयं अपने में एक स्वतंत्र सत्ता है।

रामानुजाचार्य इस सम्बन्ध में मध्य मार्ग ग्रहण करते हैं और चेतना को आत्मा का गुण तथा स्वरूप दोनों ही मानते हैं।

न्याय वैशेषिक तथा प्रभाकर चेतना को आत्मा का गुण मानते हैं, जब कि कुमारिल की मान्यता है कि चेतना आत्मा का कर्म है, क्योंकि नानात्मक

---

[१] रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ २० (म)

क्रिया ज्ञान कर्म का फल या परिणाम है। इस तरह उसका अस्तित्व पर निर्भर तथा अनित्य है।

चरक के विश्वासानुसार चेतना सर्वकाल में वर्तमान एक अनादि सत्ता है, किन्तु फिर भी, मनस् के साथ आत्मा के सम्पर्क से उसकी उत्पत्ति तथा जन्म होता है।

चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में न्याय की यह स्थिति कि चेतना स्वयं से भिन्न एक द्रव्य में सम्पादित अनेक अवयवों के सम्पर्क से उत्पन्न यान्त्रिक गुण है तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से सब से कम संतोषजनक है। यह अपना आधार न तो विचार के स्वतन्त्र अस्तित्व का और न उसके स्व प्रकाशी स्वभाव को ही बनाती है। यह सामान्य दृष्टिकोण कि द्रव्य उनके गुणों तथा कर्मों से समग्र रूपेण भिन्न होते हैं, दार्शनिक रूप से प्रतिपादित नहीं किया जा सकता है। यह न केवल आत्मा को जड़ ही बना देता है, बल्कि इसके द्वारा अनुभव की व्याख्या भी और दुरूह हो जाती है।

सांख्यदर्शन पुरुष की अपनी उत्पत्ति में चेतना के स्वतंत्र सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करता है किन्तु वह दुर्भाग्यवश ज्ञान के रूप को उसकी विषय वस्तु से पूर्णतया विच्छेदित कर देता है। पुरुष का अनुभवातीत सिद्धान्त ज्ञान द्रव्य से इतना विच्छिन्न तथा केवल बना रहता है कि यह एक रहस्य बन जाता है कि ज्ञान का विशुद्ध तत्त्व अपने स्वरूप से समग्ररूपेण भिन्न रूप को अपने ऊपर किस प्रकार ग्रहण करता है। सांख्य ज्ञानमीमांसा तथा तत्त्वमीमांसा में यह समस्या सर्वाधिक दुरूह बनी रही है। हम पौद्‌गलिक संघट मात्र से चेतना को अनुमित नहीं कर सकते जैसा कि न्याय-वैशेषिक द्वारा किया गया है, किन्तु हमें यह विस्मृत नहीं कर देना चाहिए कि चेतना अपने व्यावहारिक स्वरूप में सदैव अपनी पौद्‌गलिक सामग्री द्वारा ही अभिव्यक्त होती है। ज्ञान के इन दो सिद्धान्तों रूपात्मक तथा द्रव्यात्मक के बीच के तात्विक सम्बन्ध को न देख पाना ही सांख्य दर्शन की भूल है।

प्रभाकर चेतना के स्वतः प्रकाशी स्वरूप की अद्वितीय स्थिति को स्थापित करने का साहसपूर्ण कदम उठाते हैं जो कि प्रकाश की एक ही झलक में ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों का उद्‌घाटन करती है। इस तरह, यह न केवल न्याय के विरुद्ध जिसके अनुसार कि चेतना का उद्‌घाटन अचेतन विषय 'घटादिवत्' की तरह होता है, बल्कि ज्ञान के विषय और विषयी के अतिद्वैत से मुक्त होने में सांख्य के विरुद्ध भी एक नया बिन्दु प्राप्त करते हैं। किन्तु प्रभाकर ने इस सम्बन्ध में जाँच-पड़ताल नहीं की कि चेतना अपने स्व प्रकाशी स्वरूप 'स्वतः

प्रकाशत्व से अलग अपने आप में क्या है और इस कारण, उन्हें चेतना तथा आत्मा के मध्य इस असंतोषजनक परिणाम के साथ विभेद मानने को विवश होना पड़ा कि चेतना जब कि स्व प्रकाशी है, आत्मा अ प्रकाशी है, जो कि दोनों के बीच सही सम्बन्ध का अधोमुखी रूप है।

शांकर वेदांत ने चेतना के स्वतंत्र तथा नित्य अस्तित्व को विशेष बल के साथ अभिव्यक्ति दी जो कि स्वयं तथा प्रत्येक अन्य वस्तु को अपने प्रकाश से प्रकाशित करता है। उसने घोषित किया कि सार्वभौम चेतना का आधारभूत तथ्य सर्वज्ञान की पूर्व कल्पना है। ज्ञान के विषय और विषयी स्वयं अपने में भिन्न और पृथक नहीं हैं, बल्कि केवल गणनानुसार ही अलग और भिन्न हैं। वे अनुभव के क्षेत्र से समग्रतया बाह्य नहीं हैं, बल्कि उनका विभेद एकात्मक तथा सार्वभौम चेतना के अन्तर्गत ही किया जाता है। इस स्व-सत्तावान विशुद्ध चेतना के अनुभवातीत तथा अनुभवान्तर्गत, दो पहलू हैं। प्रथम के अन्तर्गत उसे अद्वैत, सार्वभौम, अपरिवर्तनीय, अक्रिय तथा विभेदहीन समझा जाना चाहिए, जब कि द्वितीय के अन्तर्गत विशिष्ट परिवर्तनशील, सक्रिय तथा भेदों से परिपूर्ण। वह इन दोनों में है और दोनों से अतीत भी है।

●

चतुर्थ अध्याय

चेतना का ज्ञानमीमांसात्मक स्वरूप

समस्या का वक्तव्य

हिन्दू दर्शन में चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में अत्यधिक महत्वपूर्ण विवादों में से एक स्वतः प्रकाशत्व या चेतना के स्व प्रकाशी स्वभाव से सम्बद्ध है। चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में हिन्दू दृष्टि को सही रूप से समझने के लिए इस समस्या का अत्यधिक दार्शनिक महत्व है। यह प्रश्न प्रस्तुत किया गया है कि जब कोई पदार्थ ज्ञात होता है तब क्या इस प्रक्रिया में ज्ञात का भी ज्ञान होता है? क्या वह अज्ञात रहता है, अपरोक्ष रूप से ज्ञात होता है, या तद नन्तर किसी उत्तरोत्तर ज्ञान से ज्ञात होता है? यदि वह अज्ञात रहता है तब एक अज्ञात ज्ञान द्वारा किसी विषय को जानने की अविवेकपूर्ण घटना घटित होती है और यदि वह किसी अन्य ज्ञान द्वारा जाना जाता है तब इस तरह इस प्रक्रिया की निष्पत्ति अनवस्था में होगी, जिसका अर्थ होगा यह स्व विरोधी स्थिति बिना अपना हल पाये ही शेष बनी रहती है। इस कारण, प्रत्ययवादी विचार द्वारा सामान्यतया यह घोषित किया गया है कि चेतना या ज्ञान, ज्ञात विषय के साथ ही अपरोक्षरूप से ज्ञान बनता है। ज्ञान न तो किसी तदनन्तर या उत्तरोत्तर मानसिक प्रत्यक्षीकरण से ज्ञात होता है, जैसा कि यथार्थवादी की मान्यता है और न वह अनुमान द्वारा ज्ञेय बनता है जैसा कि कुमारिल प्रतिपादित करते हैं। ज्ञान और उसके ज्ञान के मध्य कोई मध्यवर्ती मानसिक प्रक्रिया नहीं होती है अर्थात् समस्त ज्ञान अपने उत्पन्न होने के साथ ही स्वतः ज्ञान हो जाते हैं। प्रत्ययवादी का कथन है कि अज्ञात ज्ञान किसी विषय का उद्घाटित नहीं कर सकता और यदि अनवस्था में ज्ञान को स्व प्रकाशवान् मानना ही पड़ता है तब उसे पहली ही अवस्था में स्व प्रकाशी मानने में क्या दोष है?

इस कारण, प्रत्ययवादियों के अनुसार चेतना न अवेद्य है न किसी विषय की भाँति वेद्य है बल्कि स्वन्वेद्य या स्व प्रत्यक्ष है। चेतना, इस दृष्टि में नितान्त अद्वितीय है। विश्व में यह, एक साथ ही, सम्पूर्ण प्रकाशन, ज्ञान तथा

प्रकाश का स्रोत तथा सिद्धान्त है। वह अपने प्रकाश से जगत् के समग्र विषयों को प्रकाशित करते हुए भी, स्वयं अपने प्रकाश के अतिरिक्त किसी भी अन्य के प्रकाश से अभिव्यक्त नहीं होती है। वह 'स्वयं ज्योति' और 'स्वप्रकाश' है। यह 'स्वयं-ज्योति' चेतना यदि न होती तो समग्र जगत् अविद्या विषयक अज्ञान के तिमिर में डूबा रहता, क्योंकि ज्ञान के अभाव में चेतना की प्रक्रिया कभी प्रारम्भ ही नहीं हो सकती थी। यह, इस कारण शाश्वतरूप से स्व-दीप्तिमान है। वह अपने स्वरूप को उसी प्रक्रिया से अभिव्यक्त करती है जिससे कि दूसरे विषय उसके द्वारा प्रकाशित होते हैं। स्वयं के ज्ञान के लिए उसे किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती है। स्व-बोध के सम्बन्ध में, जगत् के समग्र विषयों से भिन्न और अद्वितीय, वह स्वयं अपने आप में सम्पूर्ण है।

चेतना के स्व प्रकाशत्व तथा अद्वितीयता के इस दृष्टिकोण का उन यथार्थ-वादियों द्वारा प्रचण्ड विरोध हुआ है जो कि चेतना को केवल 'परप्रकाश' की स्थिति ही प्रदान करते हैं। यह प्रतिवाद प्रस्तुत किया गया है कि चेतना चक्षु के प्रकाश की भाँति है, जिसे कि दूसरे विषयों को प्रकाशित करने के लिए स्वयं प्रकाशित होने की कोई आवश्यकता नहीं है। ज्ञान की क्रिया में ज्ञान नहीं केवल उसका विषय ही स्वयं ज्ञेय बनता है। इस तरह, चेतना स्व प्रकाश नहीं, केवल 'परप्रकाश' ही है।

इसके विपरीत प्रत्ययवादी यह प्रतिपादित करता है कि चेतना दीपक या सूरज के प्रकाश की भाँति है जो कि स्व प्रकाशन की एक ही क्रिया द्वारा, स्वयं तथा अन्य पदार्थों दोनों को एक साथ ही उद्घाटित करती है और जो स्व प्रकाशन में इस सम्बन्ध में किसी भी अन्य प्रकाश से स्वतन्त्र है। यह विचा-रना अविवेकपूर्ण है कि कोई भी प्राकृतिक प्रकाश, जो कि दूसरे विषयों को प्रकाशित करता है, स्वयं अप्रकाशी है और अपने स्वत्व की अभिव्यक्ति के हेतु किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा करता है। इस तरह, स्वतः प्रकाशत्व का विकल्प परप्रकाशत्व नहीं, बल्कि अप्रकाशत्व है। स्वतः प्रकाशत्व और पर-प्रकाशत्व के बीच चुनाव नहीं करना है जैसा कि यथार्थवादी सोचता हुआ प्रतीत होता है किन्तु चुनाव स्वतः प्रकाशत्व और जड़त्व के बीच है। वह जो स्व प्रकाशी नहीं है, प्रकाशी भी नहीं है। चेतना भी यदि स्व प्रकाशी नहीं है तो वह भी वस्तुतः किसी अचेतन विषय की स्थिति में परिणत हो जाएगी और ज्ञान तथा चेतना की व्याख्या नहीं कर सकेगी।

औपनिषदिक दृष्टिकोण

उपनिषदों ने आत्मा या पुरुष को स्वप्रकाशी या स्व दीप्तिवान की तरह विशेषित करने पर अत्यधिक बल दिया है। बृहदारण्यक में जाग्रत और स्वप्नचेतना की विस्तृत परीक्षा द्वारा पुरुष के स्वप्रकाशत्व को प्रस्थापित किया गया है। अत्रायम् पुरुष स्वयम् ज्योतिर् भवति।'[१] उस समय जबकि सब बाह्य प्रकाश बुझ जाते हैं जिनमें शरीर और इन्द्रियों के प्रकाश भी सम्मिलित हैं, तब आत्मा, जिसके प्रतिबिम्ब को बुद्धि उसमें अपनी निकटता तथा पवित्रता के कारण ग्रहण कर लेती है अपने नित्य एवं शुद्ध प्रकाश में प्रकाशवान रहती है। कठोपनिषद् ने भी कहा है। 'उसके प्रकाशित होने से सब कुछ प्रकाशित होता है। यह विश्व उसके प्रकाश के परिणामस्वरूप ही प्रकाशित है।'[२] छान्दोग्य कहता है, 'उसका रूप प्रकाश है, भारूप'।[३] पुरुष को हृदय का आन्तरिक प्रकाश (हृदयान्तर ज्योति) कहा गया है।[४] मुंडक पुनरुक्ति करता है, तमेव भांतम् अनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदम् विभाति। गीता १३, ३३ में हम पढ़ते हैं ओ अर्जुन, जिस तरह एक सूरज सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है उसी तरह इस शरीर क्षेत्र का ज्ञाता, आत्मा, भी समग्र शरीर को प्रकाशित करता है।'[५] इस तरह हम पाते हैं कि उपनिषद् के ऋषियों ने चेतना को स्वयम् प्रकाश की भाँति ही विशेषित किया है।

अभिनवगुप्त द्वारा लिखित बताये जानेवाले तन्त्रसार आह्न में चेतना को स्वप्रभिव्यक्तिमय प्रकाश के स्वभाव का उपदेशित किया गया है। प्रकाश रूपता चित् शक्ति।[६] क्षेमराज का भी कथन है कि चेतना को प्रसिद्ध नहीं किया जा सकता है। क्योंकि वह सदैव प्रकाशवान है, और प्रत्येक अन्य वस्तु केवल उसके द्वारा ही सिद्ध होती है।[७]

उसे किसी अचेतन विषय की भाँति किसी अन्य ज्ञाता द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। वह स्वप्रकाशित है।

---

१ कठोपनिषद् ५ १५।
२ छान्दोग्य ३ १४ २।
३ बृहदारण्यक् ४ ३ ७।
४ गीता १३ ३३।
५ तन्त्रसार, आह्न १ देवी भागवत भाष्य ७ ३२ १२ ११।
६ शिव सूत्र विमर्शणी सूत्र १।
७ देवी भागवत ७ ३२ १२ ११।

अद्वैत वेदान्त का दृष्टिकोण

चेतना के स्वत प्रकाशत्व के सिद्धान्त के सर्वाधिक प्रभावशाली प्रतिपादय शाकर वेदान्तवादी, योगाचार विज्ञानवादी पूर्वमीमासा के प्रभाकर-मतीय तथा साख्य योगवादी विचारक रहे हैं। वेदान्तानुसार, ज्ञान स्वय प्रकाशी है क्योकि ज्ञान के ज्ञान को स्वीकार करना अविवेकपूर्ण है। ज्ञान ज्ञान का विषय नही हो सकता है क्योंकि विषय का स्वभाव अचेतन होना है तथा विषय और विषयी के स्वरूपों के मध्य आत्यन्त वभिन्य है। विषय होना ज्ञान के स्वभाव के विपरीत है। वह कभी भी विषय के गुण ग्रहण नहीं कर सकता है, न ही विषय कभी विषयी हो सकता है। ज्ञान चूंकि चेतन स्वभावी है, इस कारण उसका विषय बनना असम्भव है, और इसलिए उसका स्वत प्रकाशी होना आवश्यक है।

शाकर गौड़पाद कारिका के अपने भाष्य ३ ३३ म कहते हैं कि ब्रह्म जो कि नित्य चेतना का एव सजातीय पु ज है, सूर्य की भाँति ही अपने प्रकाशन के लिए ज्ञान के किसी अन्य उपकरण पर निर्भर नही हो सकता। उनका कथन है कि जबकि समग्र वस्तुओ को ज्ञान तथा ज्ञेय के वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है तब केवल वनाशिको या शाङ्कर अन्य कोई भी, ज्ञान को ही प्रत्यक्ष करनेवाले एक तृतीय ज्ञान के रूप म स्वीकृत नही कर सकता।[१] ज्ञान के अनभिव्यक्त विषयों तथा स्व-अभिव्यक्तिपूर्ण ज्ञान के मध्य विभेद करना अपरिहार्य है। यह कहा गया है कि सौ वनाशिक मिलकर भी स्वय ज्ञान को ज्ञेय नहीं बना सकते, उसी भांति जिस प्रकार वे किसी मृत व्यक्ति को पुनर्जीवित नहीं कर सकते। ज्ञान का ज्ञान 'ज्ञेयस्य ज्ञेयत्वम' या चेतना की चेतना एक मनोवैज्ञानिक विवेकशून्यता है। फिर भी यह स्मरण रखना चाहिये कि ज्ञान केवल ऋणात्मक अर्थों में ही स्वदीप्तिवान् है, अर्थात् उसकी अभिव्यजना किसी अन्य ज्ञान द्वारा नही होती है। स्व प्रकाशत्व की धारणा इस घटनात्मक अथ म कि वह स्वयं अपने ही द्वारा ज्ञात बनता है, प्रयुक्त नहीं हुई है।

चेतना के लिए, चू कि वह स्वय ही प्रकाशन का परम सिद्धान्त है अत स्वय के प्रकाशन के हेतु किसी अन्य और दूरस्थ सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं है। उस प्रकाश को जो कि स्वय प्रत्येक वस्तु को उद्घाटित करता है, स्वभावत ही स्वय के प्रकाशन के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं हो सकती है।

१ प्रश्नोपनिषद, शांकर भाष्य ६ १

इस तरह, सर्वज्ञान स्व प्रकाशी है, जिसका अर्थ है कि ज्ञान की क्रिया और उसके ज्ञान के मध्य कोई मध्यवर्ती मानसिक स्थिति नहीं होती। ज्ञान की सीधी तथा अपरोक्ष बौद्धिक अनुभूति होती है। एक ज्ञान को यदि दूसरे ज्ञान से ज्ञात होना आवश्यक है, तो इसकी अन्तत निष्पत्ति अनवस्था दोष में ही हो सकती है, जिससे कि प्रत्येक मूल्य पर बचना आवश्यक है।

श्री हर्ष सिद्ध करते हैं कि चेतना के स्व प्रकाशत्व के सिद्धान्त को, यह चाहे साधारण अनुभव के विपरीत ही क्यों न पड़ता हो, दो प्रमुख कारणों के आधार पर स्वीकार कर लेना आवश्यक है। प्रथमत, कि अन्यथानुपपत्ति की युक्ति इसे समग्ररूपेण सिद्ध करती है, अर्थात् चेतना या कोई अन्य दृष्टिकोण न आलोचना के समक्ष ठहरता है और न ज्ञान के तथ्य की व्याख्या मे ही समर्थ सिद्ध होता है, तथा द्वितीयत यह कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का सामान्य विभेद, जो कि ज्ञान के स्व ज्ञान के सिद्धान्त के विपरीत जाता है, वस्तुत सत्य नहीं है, क्योंकि पारमार्थिक रूप से ज्ञाता और ज्ञान या ज्ञान या ज्ञेय के मध्य कोई विभेद नहीं है। हमे इस दृष्टिकोण का परित्याग कर देना चाहिए कि ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है, क्योंकि अन्यथा, 'मैं जानता हू' का बोध, जबकि ज्ञान ही ज्ञेय विषय भी है, सम्भव नहीं हो सकता है।[१]

विद्यारण्य भी ज्ञान को स्व-बोधित तथा अपरोक्षानुभूति से उपलब्ध मानते हैं। उन्होंने ज्ञानों के ज्ञान के न्याय तथा भाट्ट दृष्टिकोण की आलोचना की है। इस दृष्टिकोण से उनकी सहमति है कि ज्ञान के ज्ञान में यह उपलक्षित है कि समय के दो क्षण एक साथ ही अस्तित्व म होते हैं जो कि नितान्त अविवेकपूर्ण है।[२] ज्ञान का ज्ञान अपरोक्षतया उसी समय जसे ही यह उद्भूत होता, ज्ञान की बिना किसी तदनन्तर क्रिया के हो जाना आवश्यक है।[३]

चित्सुखामुनि अपनी तत्त्वप्रदीपिका म स्व प्रकाशत्व की समस्या का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करते हैं और उनका यह दावा है कि यदि ज्ञान स्व प्रकाशन न होता तो जीवन की कोई भी व्यावहारिक क्रिया सम्भव न होती क्योंकि हमारा समग्र व्यवहार हमारे ज्ञान के स्व-बोधित होने के एक अन्तर्निहित विश्वास पर आधारित है।

१ बृहती पृष्ठ २६

२ श्लोकवार्तिक, सूत्र २ पृष्ठ ६१, बनारस

३ शास्त्रदीपिका पृष्ठ ६०, १२६८ ४७ ६६

हृदयविवेक चेतना के स्व प्रकाशत्व पर जोर देता है तथा स्वयम विभात्यु प्रयान्यानि भाव्येत साधनम् विना' की तरह उसकी परिभाषा करता है। प्रथम श्लोक में ही यह कहा गया है, रूप देखा जाता है, आँख देखनेवाली है, आँख देखी जाती है और मनम् देखने वाला है, मनस देखा जाता है और साक्षी देखने वाला है किन्तु साक्षी स्वयं किसी और के द्वारा देखा नहीं जाता।' इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि चेतना या प्रकाश के परम सिद्धान्त की धारणा स्व प्रकाशवान की भाँति तथा प्रकाशन के अन्य उपकरणों से स्वतन्त्र रूप से की जानी चाहिए। समग्र विशिष्ट प्रकाशों के उद्गम स्रोत को ही स्वयं प्रकाशित करने की आशा कोई कैसे कर सकता है? यदि चेतना को स्वयं ज्योति की भाँति स्वीकृत नहीं किया जाता है, तो एक ज्ञान के अन्य किसी दूसरे ज्ञान द्वारा ज्ञात होने की प्रक्रिया का अन्त कभी नहीं हो सकता।

प्रभाकर का दृष्टिकोण

विगत अध्याय में हम पहले ही देख चुके हैं कि इस दृष्टिकोण के अनुसार स्व प्रकाशी चेतना ज्ञान की किसी घटना के समग्र खण्डों, अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान तीनों को एक साथ ही प्रकाशित करती है। मीमांसा के लिए सब ज्ञान ज्ञान की ही भाँति स्व प्रमाणित हैं। यह स्व स्थापित प्रत्यय नहीं बल्कि ज्ञान की अप्रमाणिकता है जिसे प्रमाणों के द्वारा प्रस्थापित करना होता है। यह दृष्टिकोण जैमिनी सूत्र १, १ ५ (तस्मात् प्रमाणम अपेक्षत्वात्) पर आधारित है जिसे कि प्रभाकर तथा कुमारिल दोनों के द्वारा तदनन्तर विकसित किया गया है। प्रभाकर शावर को उद्धृत करते हैं तथा कहते हैं कि यह निश्चय ही आश्चर्यजनक है कि कैसे एक ज्ञान को किसी विषय का जानता हुआ तथा फिर भी साथ ही अप्रमाणिक भी कहा जा सकता है। कुमारिल यह कहकर उक्त दृष्टि का समर्थन करते हैं कि ज्ञान का ज्ञात होना ही उसकी प्रमाणिकता होनी चाहिए। सारे ज्ञान यदि स्व प्रमाणित न होते तो हमारे ज्ञानों के सम्बन्ध मे हमें विश्वास कहाँ से प्राप्त हो सकता था? ज्ञान, किसी विषय को उद्घाटित करते समय स्वयं को भी अभिव्यंजित करता है। अ जब ब को देखता है, तब अ के मस्तिष्क म उस ज्ञान के प्रति कोई सदेह नहीं देखा जाता है। ज्ञान के स्वबोध का निषेध आवश्यक रूप से स्वतः ज्ञान के ही अविवेकपूर्ण अस्वीकार की ओर ले जाता है जिसे कि सभी ने स्वीकार किया है। और, इस कारण, ज्ञान चाहे कभी वस्तुओं की यथार्थ स्थिति से सहमत होता हुआ न भी मिले जिससे कि उसकी अप्रमाणिकता सिद्ध हो, फिर भी ज्ञान का ज्ञान की भाँति स्व प्रमाणित से अन्य स्वीकार

नहीं किया जा सकता, क्योंकि चाहे ज्ञात वस्तु वहाँ उपस्थित न भी हो, फिर भी ज्ञान तो वहाँ मवविधि है ही। और जबकि तदनन्तर ज्ञान पूर्व ज्ञान की प्रामाणिकता को प्रसिद्ध करता है तो उसे पूर्व ज्ञान की उस प्रामाणिकता को नष्ट करता हुआ माना जाना चाहिए जो कि उसमें अन्य ज्ञान की तरह सम्स्थित थी। ज्ञान केवल उस सीमा तक ही अप्रामाणिक होते हैं, जहाँ तक वे किसी अन्य ज्ञान द्वारा बाधित होते हैं।

प्रभाकर के अनुसार आत्मा स्व प्रकाशी नहीं है, केवल चेतना ही स्व प्रकाशी है। आत्मा तथा वाह्य विषय दोनों अप्रकाशक हैं। आत्मा स्व प्रकाशी इसलिए नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान के द्वारा ज्ञात बनती है। ज्ञान ही केवल स्व प्रकाशयुक्त है, क्योंकि उसे किसी अन्य ज्ञान द्वारा ज्ञात बनने की आवश्यकता नहीं होती है। चेतना तथा आत्मा के मध्य के सम्बन्धों के सम्बन्ध की विगत अध्याय में वर्णित प्रभाकर की असंगत स्थिति के प्रभावों को हम यहाँ स्पष्ट देखते हैं। यह निश्चय ही एक असाधारण धारणा है कि चेतना को, जिसे आत्मा का एक गुण माना गया है स्व-दीप्तिमय तथा स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित माना जाये जबकि आत्मा का इससे रिक्त तथा स्वयं की ही अभिव्यक्ति के लिए अपने ही गुण पर निर्भर प्रस्तावित किया गया है। इस स्थिति का उद्भव द्रव्य और गुण के मध्य सही सम्बन्धों के पर्याप्त विश्लेषण और विचार न करने के कारण ही हुआ प्रतीत होता है।

सांख्य-योग का दृष्टिकोण

इस मत के अनुसार ज्ञान उस बुद्धि का मानसिक व्यवसाय है जो कि स्वरूपतः अचेतन है और इस तरह स्वयं की चेतना का एक विषय नहीं हो सकती है। वह न किसी विषय को जान सकती है और न स्वयम् को ही अभिव्यक्त कर सकती है। वह आत्मा द्वारा ज्ञात बनती है, जिसका स्वरूप केवल शुद्ध चित् या प्रकाश है। योग सूत्र ४ १९ (न तत् स्वाभासम् दृश्यत्वात्) यह स्पष्ट करता है कि मनस् या बुद्धि स्वयं को प्रकाशित क्यों नहीं कर सकते हैं। मनस् या बुद्धि स्व प्रकाशन में इस कारण असमर्थ हैं क्योंकि वे स्वयं ही दृष्टि या ज्ञान का एक विषय हैं। इसी सूत्र के आधार पर वैशारदी ने निरूपण किया है कि स्व प्रकाशत्व जो कि मनस् के सम्बन्ध में अप्राप्यात्मक है आत्मा के प्रसंग में वैसा क्यों नहीं है। यह भेद इसलिए है क्योंकि आत्मा की स्वज्योति किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं है और उसके अनुभव का विषय भी वह नहीं बनती है। मनस् प्रकाश, जो कि दृष्टि या ज्ञान का एक विषय

है, स्वय को प्रकाशित कसे कर सकता है ? वह आत्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है, जो कि प्रकाश का स्रोत है। आत्मा से विकीर्णित प्रकाश ही केवल उसम प्रतिफलित होता है। मनस् या बुद्धि अनुभव क विषय हैं और रूपातरित होते रहते हैं जब कि आत्मा रूपान्तरण से कभी नहा गुजरती, और न ही अनुभव का विषय ही कभी बनती है। यह अपरिवर्तनशील आत्मा ही स्व दीप्तिमय है जो कि विषय और ज्ञान दोना का जानती है।

योग सूत्रो के अनुसार न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त असन्तोषजनक समझा गया है। वह स्मृति विभ्रम की ओर ले जाता है। क्योंकि यदि हमें ज्ञान क ज्ञान म विश्वास करना पड़े, तो मानसिक सस्कार उतने ही होंगे जितनी कि ज्ञान के ज्ञान की सख्या होगी और परिणामत सस्मरणो की सख्या भी उतनी ही हो जाना आवश्यक होगी जिसका फल अन्तत , स्मृति विभ्रम से अन्यथा और क्या हो सकता है। इस कारण योग सूत्रकार ने चेतना सिद्धान्त को ही केवल स्व उद्घटित सिद्धान्त की भाँति ग्रहण किया है।

यथार्थवादी दृष्टिकोण

न्यायानुसार, 'मैं यह देखता हूँ', म दो ज्ञान सन्निहित हैं। यह का प्रथम तथा मौलिक ज्ञान, जिस पारिभाषिक रूप स व्यवसाय कहा गया है, प्रथम ज्ञान व्यवसाय है जो कि ज्ञाता से विषय के सम्पर्क से उत्पन्न होता है। 'मैं देखता हू अनुव्यवसाय है जिस का उद्भव मनस् क साथ उसके सम्पर्क के कारण होता है। व्यवसाय या प्रथम ज्ञान हम कभी भी मैं देखता हूँ इस रूप म नहीं होता है। उसका रूप सदव यह यह है होता है और चूँकि हमारी सम्पूर्ण क्रियाएँ वस्तुओ के सुनिश्चित ज्ञान से प्रारम्भ होती हैं न कि ज्ञान के ज्ञान से इस कारण यह दृष्टिकोण हमार दनिक अनुभव के साथ बहुत कुछ सहमत है। यह प्रथम ज्ञान का व्यवसाय ही है जो कि वस्तुओ को जानता है। उसका स्वय के ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है। उत्तरोत्तर ज्ञान से इन्कार नहीं किया गया है किन्तु वह केवल बाद में ही प्रगट होता है। नैयायिकों का विश्वास है कि ज्ञाना का स्व बोध नही होता है किन्तु व मानसिक प्रत्यक्षीकरण (मानस प्रत्यक्ष) द्वारा ज्ञान-गम्य जरूर हैं। उनके अनुसार चेतना कि अनुभूति न तो ज्ञातता से होती है जसा कि भट्ट सम्प्रदाय का विश्वास है और न यह स्व-बोधित होती है जसी कि वेदान्त तथा योगाचार की मान्यता है। नैयायिक विचारकों की दृष्टि से उसका प्रत्यक्षीकरण अन्य ज्ञान के द्वारा होता है। कोई ज्ञान स्वय अपना को नही जानता। उसका ज्ञान किसी अन्य ज्ञान द्वारा ही सम्भव होता है।

'ज्ञानम ज्ञानान्तर प्रवेद्यम प्रमयत्वात् पटाव्दित् ।' कोई ज्ञान स्वयं अपने पर परावर्तित नहीं हो सकता वह स्व प्रकाश नहीं केवल परप्रकाश ही होता है। इस तरह न्याय-वैशेषिक ज्ञान या चेतना को स्व प्रकाश नहीं मानता है। उसके अनुसार ज्ञान या चेतना केवल परप्रकाश ही है।

स्वप्रकाशत्व पर न्याय भाष्य

न्याय भाष्य की मान्यता है कि ज्ञान स्वज्ञेय नहीं है[1]। एक ज्ञान दूसरे ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष होता है। न्याय सूत्र २ १, १९ ज्ञान-साधनों में ज्ञेयत्व के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित करता है। इस प्रसंग में न्यायभाष्य के समक्ष केवल स्व प्रकाशत्व दोष के ही दो विकल्प प्रस्तुत हैं। यह कहता है कि यह परिस्थित्यानुसार निश्चित होता है कि कोई वस्तु उसी प्रकार प्रत्यक्षीकरण की विषय भी बन सकती है जिस प्रकार कि यह प्रत्यक्ष का साधन बन सकती है।[2] इस भाँति आत्मा एक परिस्थिति के अन्तर्गत ज्ञाता है तथा अन्य के अन्तर्गत ज्ञेय है। अनवस्था दोष के आक्षेप का उत्तर भाष्य ने यह दिया है कि ज्ञान के विषयों और ज्ञान के उपकरणों के ज्ञेय होने के आधार पर सम्पूर्ण प्रयोग की व्याख्या की जा सकती है तथा अनवस्था दोष से कुछ भी उपलब्ध नहीं होता, जिसका अर्थ है कि भाष्य द्वारा अनवस्था दोष से कुछ के आक्षेप को अत्यन्त सैद्धान्तिक होने के कारण अस्वीकृत कर दिया जाता है।

न्याय दर्शन इस तरह इस निष्पत्ति से अपने आपको सन्तुष्ट कर लेता है कि ज्ञान स्व प्रकाश नहीं है क्योंकि यह परिकल्पना, अपेक्षा, उत्तप, सुख तथा सर्वान्तिम मुक्ति पाने के व्यावहारिक प्रयोजन के लिए आवश्यकीय नहीं है जिसका कि न्याय दर्शन में चिन्तन की सम्पूर्ण वृत्ति पर आधिपत्य है।

न्यायभाष्य दृष्टिकोण की आलोचना

वेदान्तवादी द्वारा न्याय दृष्टिबिन्दु पर इस आधार पर आक्षेप किया गया है कि अनुव्यवसाय का अस्तित्व वस्तुतः असम्भव है। यह प्रश्न करता है कि यदि यह भी मान लिया जाय कि एक ज्ञान का दूसरे अनुगामी ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष होता है जो कि अपने आप में नितान्त अविवेकपूर्ण है, तब द्वितीय ज्ञान अनुव्यवसाय का उद्भव क्या उस समय होता है जब कि प्रथम ज्ञान व्यवसाय अभी अस्तित्व में है या कि उस समय जब कि प्रथम ज्ञान विनष्ट हो

१ न्याय भाष्य २ १ १९।
२ न्याय भाष्य।

गया है।[1] प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है क्योंकि न्याय वशेषिक के अनुसार ज्ञान समकालीन नहीं, क्रमानुगत होते हैं। द्वितीय विकल्प भी स्पष्टतया असम्भव है, क्योंकि यदि अनुव्यवसाय उस समय पदा होता है, जब कि व्यवसाय विनष्ट हो चुका है, तो फिर अनुव्यवसाय द्वारा, यदि अनस्तित्ववान् व्यवसाय का प्रत्यक्ष होता है, तो यह प्रत्यक्षीकरण यथार्थ नहीं भ्रमात्मक है।

नवीन स्थितियों तथा नई कठिनाइयों को पदा करके गगेश द्वारा तत्व चिन्तामणि[2] मे उपरोक्त आलोचना का प्रत्युत्तर देने का प्रयास किया गया है। क्योकि प्रथमत यह उत्तर कि अनुव्यवसाय ठीक उसी समय अस्तित्व में आता है, जिस समय कि व्यवसाय विनष्ट होता है तथा द्वितीयत यह कि ज्ञानत्व है, न कि कोई ज्ञान विशेष जो कि शेष रहता हुआ चेतना को सोपाधिक बनाता है, न्याय की पूव स्थिति में किसी प्रकार का भी परिवतन उपस्थित नहीं करता। यह पुन, या तो अनवस्था दोष की ओर ले जाता है, या फिर सम्पूर्ण ज्ञान को ही असिद्ध कर देता है, क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रथम ज्ञान मे विश्वास करने का कोई भी कारण शेष नहीं रह जाता है, तथापि यह दनिक अनुभव की बात है कि ज्ञान के होने के लक्ष्य में कोई भी सन्देह प्रगट नहीं करता है। एव अथ मे कहा जा सकता है कि न्याय वशेषिक यथार्थवादी भी चेतना के स्व प्रकाशत्व के स्वभाव को स्वीकार करता है क्योंकि वह यदि व्यवसाय को नहीं, तो कम से कम अनुव्यवसाय को तो स्व ज्ञेय मानता ही है।

यथार्थवादी चेतना के स्वप्रकाशत्व के सिद्धान्त पर इस आधार पर भी आक्षेप करता है कि एक ही और वही वस्तु विषय और विषयी दोनों नहीं हो सकती है। वेदान्तवादी सदव ही इस आक्षेप का प्रत्युत्तर श्रीहर्ष के शब्दों में इस प्रकार देता आया है कि वेदान्तवादी विषय और विषयी की मध्यकालीन असंगति को स्वीकार नहीं करता है, और विषयी और विषय यदि तात्विक रूप से नितान्त भिन्न वस्तुए होतीं तो न तो स्व चेतना सम्भव हो सकती थी और न ज्ञान ही किसी अन्य प्रकार से सम्भव हो सकता था।[3] इसके साथ ही, ज्ञान के स्व प्रकाशत्व में विश्वास करनेवाला प्रत्ययवादी इस कारण ही कि वह इन प्रकाशत्व म विश्वास करता है, इस उपपत्ति का समर्थक नहीं है

१ न्याय भाष्य।

२ तत्व चिन्तामणि पृष्ठ ८०४ ८, बिब इन्डिका जिल्द ९८ भाग १ अनुव्यवसायवाद।

३ खण्डनखण्ड खाद्य पृष्ठ ६६।

कि एक ही वस्तु विषय और विषयी दोनों बनती है। ज्ञान चेतना के स्व ज्ञेयत्व के सिद्धान्त पर उपरोक्त कठिनाई के आधार पर आक्षेप करना, वस्तुत उन सिद्धान्त के मूल तत्वो को ही गलत रूप से समझना है। स्व प्रकाशित ज्ञान का अर्थ एक विषय की भाँति प्रकाशित होना कदापि नहीं है। ज्ञान का विषय की भाँति प्रकाशित होने का सिद्धान्त तो प्रत्ययवादी का नहीं स्वयं यथार्थवादी का ही है। प्रत्ययवादी के अनुसार ज्ञान के स्व ज्ञेयत्व या स्व प्रकाशत्व की क्रिया की उपमा किसी और क्रिया से नही दी जा सकती है। यह स्वयं अपने आप में एक अपूर्व और अद्वितीय क्रिया है।

कुमारिल भट्ट का दृष्टिकोण

कुमारिल मानते हैं कि ज्ञान उस समय अपने आपका प्रत्यक्ष नहीं करता जब कि वह किसी विषय का प्रत्यक्ष करता होता है। ज्ञान यद्यपि बाह्य वस्तुओं के प्रकाशन में प्रकाश-स्वरूप ही है, तथापि वह स्वयं अपने ज्ञेयत्व या प्रकाशत्व के प्रसंग में किसी अन्य ही क्रिया पर निर्भर करता है। उस समय जब कि वह अन्य किसी विषय के प्रत्यक्ष में संलग्न होता है, उस स्वयं अपना प्रत्यक्ष नहीं होता। ज्ञान प्रकाशत्व का यह स्वभाव है कि वह बाह्य विषयों को तो प्रकाशित करता है, किन्तु स्व प्रकाशत्व की क्षमता उसमें नहीं है। स्व प्रकाशत्व के लिए उसे स्व प्रकाश से भिन्न किसी अन्य क्रिया पर निर्भर होना पड़ता है वाच्यवाच्यत्व प्रतीतवत्। उसके प्रकाशयुक्त स्वभाव का विधान स्व चेतना के हेतु नहीं, बल्कि केवल बाह्य विषयों के प्रकाशन के लिए ही है।[1] इस तरह आचार्य कुमारिल भट्ट के अनुसार ज्ञान स्वतः प्रकाश नहीं, केवल परप्रकाश ही है।

प्रभाकर के त्रिपुटी प्रत्यक्ष से भिन्न इस सम्प्रदायानुसार ज्ञान की क्रिया में चार सरण्डात्म सम्मिलित हैं। ज्ञान क्रिया के ये चार विधायक अंग निम्न हैं प्रथम, विषयों का कर्ता या ज्ञाता, द्वितीय, ज्ञान विषय या ज्ञेय, तृतीय, उपकरणात्मक ज्ञान या कारण ज्ञान की क्रिया जिस भाँति वस्तु पाचन में पाचकत्व उत्पन्न कर देती है उसी भाँति ज्ञान क्रिया विषय में ज्ञातता उत्पन्न कर देती है इसी ज्ञातता से कार्य की तरह हम उसके कारण ज्ञान के अस्तित्व को अनुमित करते हैं। इस तरह ज्ञान की अनुमिति उसके विषय की ज्ञातता से होती है। कोई ज्ञान स्वयं उसके या किसी अन्य ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्षीकृत नहीं होता बल्कि उसकी अनुमिति उसके विषय में निहित ज्ञातता के आधार पर ही की

---

१ श्लोकवार्तिक, शून्यवाद १८७।

जानी है। 'ज्ञाततानुमेयम ज्ञानम्' ।[१] इस तरह कुमारिल के अनुसार ज्ञान का ज्ञान स्वप्रकाशत्व पर नहीं, अनुमान पर आधारित होता है।

भट्ट दृष्टिकोण की आलोचना

कुमारिल की ज्ञातता की परिकल्पना को प्राय सार्वभौमिक रूप से अस्वीकृत किया गया है। श्रीधर ने इंगित किया है कि कुमारिल ने ज्ञाता की परिकल्पना म गाडी को बलों के आगे बाँधने की भूल की है। उनके तर्क मे उत्तर को पूर्व म रखने का हेत्वाभास निहित है क्योकि ज्ञातता को ज्ञान का कारण नहीं कार्य होना चाहिए।[२]

केशव मिश्र तथा शिवादित्य ने भी ज्ञातता की परिकल्पना को पूर्णतया अनावश्यक कहा है। ज्ञातता ज्ञान और उसके विषय अद्वितीय सम्बन्ध से भिन्न कुछ भी नहीं हैं।[३] ज्ञेय बनना विषय का कोई गुण नहीं है। वह तो ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य एक स्वयभू सम्बन्ध मात्र है। विषय म ज्ञातता के एक नए गुण की उत्पत्ति का, चावल के पाकत्व के साधर्म्य पर दिया गया तर्क अरक्षणीय है, क्योकि, चावल में तो हम अपक्की स्थिति से पकी स्थिति म परिवर्तन का अनुभव नहीं होता।[४] इसके अतिरिक्त, यदि एक ज्ञान ज्ञातता के किसी विशिष्ट गुण के द्वारा ज्ञेय बनता है, तो उस ज्ञातता को उसमे उत्पन्न किसी अन्य ज्ञातता के द्वारा अनुमिति करना होगा और इस प्रक्रिया का अन्त कहीं भी नहीं हो सकता। और यदि इस अनवस्था दोष से बचने के लिए ज्ञातता को स्व प्रकाशी माना जाता है तो हम उसी भाँति स्वय ज्ञान को ही स्व प्रकाशी मान सकते हैं।[५]

कुमारिल पर शान्तरक्षित की आलोचना

विज्ञानवाद के अनुसार भी स्वप्रकाशत्व ज्ञान का तात्त्विक स्वरूप है और इस कारण तत्वसग्रह म कुमारिल के ज्ञान के परप्रकाशी स्वरूप के सिद्धान्त पर दारुण आक्रमण किया गया है। आचार्य शान्तरक्षित न परप्रकाशत्व के सिद्धान्त के विरोध म पूर्ववादी तत्त्वसग्रह श्लोकवार्तिक से उद्धरण प्रस्तुत

१ द्रष्टव्य पार्थसारथि मिश्र की शास्त्र-दीपिका पृष्ठ १८७ १६१।
२ तर्क भाषा पृष्ठ ५४ ५५।
३ न्याय कन्दली पृष्ठ ६६।
४ न्याय कन्दली पृष्ठ ६६ अननुभवात्।
५ न्याय कन्दली पृष्ठ ६७।

किए हैं तथा एक अरक्षणीय सिद्धान्त के रूप में उसकी आलोचना प्रस्तुत की है।[1]

कुमारिल की मान्यता है कि ज्ञान में स्वप्रकाशत्व की कोई क्षमता नहीं है। ज्ञान की प्रकाशन शक्ति, उनके अनुसार केवल बाह्य विषयों को प्रकाशित करने तक ही आबद्ध है। इसके प्रत्युत्तर में शान्तरक्षित ने कहा है कि ज्ञान को स्वप्रत्यक्ष होना ही चाहिए क्योंकि, ज्ञान जब किसी विषय का प्रत्यक्ष करता है, तब उसे उससे या तो भिन्न होना चाहिए या अभिन्न होना चाहिए। यदि ज्ञान विषय से भिन्न है तब वह उसका प्रत्यक्ष कभी भी नहीं करता, और यदि वह उससे अभिन्न है तब विषय के प्रत्यक्षीकरण में स्वयं उसका प्रत्यक्ष भी अनिवार्यतः हो जाता है।

इस कारण शान्तरक्षित का कथन है कि यदि ज्ञान को स्वप्रकाशी नहीं माना जाता तो निम्न दो परिणाम में से किसी एक का स्वीकार आवश्यक हो जाता है। एक ओर या तो विषय अप्रत्यक्षीकृत छूट जाता है, या दूसरी ओर अनवस्था दोष की स्थिति पैदा हो जाती है। प्रथम परिणाम को स्वीकार करने पर, यदि ज्ञान का प्रत्यक्ष करने में असमर्थ है, तब ज्ञान के स्वयं अदृष्टि गोचर होने के कारण, विषय का प्रत्यक्ष भी अदृष्टिगोचर हो जाता है। इस तरह इस विकल्प के अनुसार ज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। प्रथम परिणाम से भिन्न यदि द्वितीय परिणाम को स्वीकार किया जाता है, जहाँ कि किसी विषय के ज्ञान के ज्ञान के लिए ज्ञान की किसी अन्य क्रिया की अपेक्षा होती है तो इस विकल्प का अन्ततः परिणाम अनवस्था दोष ही हो सकता है क्योंकि उस स्थिति में प्रत्येक ज्ञान के ज्ञान के हेतु अन्य ज्ञान की अपेक्षा सदैव ही अन्तहीन रूप से बनी रहती है। इस अनवस्था दोष से बचाव का केवल एक ही मार्ग है कि हम मानें कि सबज्ञान स्वप्रकाशी है, तथा कोई भी ज्ञान स्वयं अपने ज्ञान के हेतु किसी अन्य ज्ञान क्रिया की अपेक्षा नहीं करता।[2]

जयन्त ने भी, कुमारिल के परप्रकाशवाद के विपरीत विज्ञानवाद द्वारा प्रकाशवाद के पक्ष में प्रस्तुत तर्कों का निम्न रूप से उपस्थित किया है।

यदि यथार्थवादी यह स्वीकार करता है कि ज्ञान स्वयं का अभिव्यक्त करने में असमर्थ जड़ पदार्थों को प्रकाशित करता है तब उसे यह भी स्वीकार

---

१ तत्व संग्रह श्लोक २०१२ १३ २६ २२।

२ तत्व संग्रह, श्लोक २०२५ २७ २८ तथा पंजिका।

कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि कोई ज्ञान तब तक किसी विषय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है जबतक कि उस ज्ञान का स्वयं उसके पूर्व प्रत्यक्ष नहीं कर लिया गया है, क्योंकि जिस भाँति कि कोई दीपक बिना स्वयं दृष्टिगोचर हुए अन्य विषयों को प्रकाशित नहीं कर सकता है, उसी तरह ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष हुए बिना अन्य विषयों का प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है? यथार्थवादी यह कह सकता है कि किसी ज्ञान का उसकी उत्पत्ति के समय तथा उन क्षणों में ही जब कि वह अन्य विषयों को प्रकाशित कर रहा है, प्रत्यक्ष करना असम्भव है। जयन्त ने इसके उत्तर में कहा है कि यदि ज्ञान को उसकी उत्पत्ति के साथ ही नहीं जान लिया जाता तो किसी अन्य समय में भी उसका प्रत्यक्ष फिर नहीं हो सकता, क्योंकि वह बाद में समान ही बना रहेगा और कोई नये गुण ग्रहण नहीं करेगा जिनके कारण कि किसी अन्य समय में उसका प्रत्यक्ष सम्भव हो सके [१]।

जयन्त की यह उक्ति न्याय स्थिति पर किये गये वेदान्तवादी उत्तर के समान ही है कि यदि किसी ज्ञान का उसके प्रथम ज्ञान-व्यवसाय के समय ही प्रत्यक्ष नहीं कर लिया जाता है, तो फिर उसका प्रत्यक्ष कभी भी नहीं किया जा सकता। इस कारण यथार्थवादी को मान लेना चाहिए कि किसी विषय का प्रत्यक्ष हो सके इसके पूर्व ही स्वयं ज्ञान का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है।[२] यह कहा गया है कि किसी विषय का तब तक प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, जबतक कि उसके ज्ञान का भी प्रत्यक्ष नहीं कर लिया जाता। 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति।'[२]

किन्तु यथार्थवादी प्रत्युत्तर देता है कि ज्ञान यदि स्व प्रकाशी हो, तो उसका 'यह नीला है' इस रूप में नहीं वलिक 'मैं नीला हूँ' इस रूप में प्रगट होना आवश्यक है।[३] किन्तु यह आक्षेप मुश्किल से युक्तियुक्त प्रतीत होता है। ज्ञान के स्वप्रकाशत्व से यह अर्थ प्रयोजित नहीं है कि ज्ञान ज्ञाता है, या कि उनमें कोई विषयी अन्तर्भावित है। कोई ज्ञान यदि वह स्वयम् 'मैं' नहीं है तो 'मैं नीला हूँ' इस रूप में प्रकट नहीं हो सकता। अतः यथार्थवादी आलोचक विवाद बिन्दु के निकट नहीं है। उसका आक्षेप व्यर्थ है क्योंकि स्व प्रकाशत्व का अर्थ इस प्रस्ताव के बिना कि ज्ञान में कोई विषयी है या कि ज्ञान स्वयं को प्रत्यक्ष करता है केवल ज्ञान की अपरोक्ष दृष्टिगोचरता ही है।

---

१ न्याय मञ्जरी पृष्ठ ५३८।

२ न्याय मञ्जरी पृष्ठ ५३८ धर्मकीर्ति से उद्धृत।

३ न्याय मञ्जरी, पृष्ठ ५४१।

किए हैं तथा एक अरक्षणीय सिद्धान्त के रूप में उसकी आलोचना प्रस्तुत की है।[१]

कुमारिल की मान्यता है कि ज्ञान में स्वप्रकाशत्व की कोई क्षमता नहीं है। ज्ञान की प्रकाशन शक्ति, उनके अनुसार, केवल बाह्य विषयों को प्रकाशित करने तक ही आबद्ध है। इसके प्रत्युत्तर में शान्तरक्षित ने कहा है कि ज्ञान को स्वप्रत्यक्ष होना ही चाहिए क्योंकि, ज्ञान जब किसी विषय का प्रत्यक्ष करता है, तब उसे उससे या तो भिन्न होना चाहिए या अभिन्न होना चाहिए। यदि ज्ञान विषय से भिन्न है तब यह उसका प्रत्यक्ष कभी भी नहीं करता, और यदि वह उससे अभिन्न है, तब विषय के प्रत्यक्षीकरण में स्वयं उसका प्रत्यक्ष भी अनिवार्यतः हो जाता है।

इस कारण शान्तरक्षित का कथन है कि यदि ज्ञान को स्वप्रकाशी नहीं माना जाता तो निम्न दो परिणाम में से किसी एक का स्वीकार आवश्यक हो जाता है। एक ओर या तो विषय अप्रत्यक्षीकृत छूट जाता है, या दूसरी ओर अनवस्था दोष की स्थिति पदा हो जाती है। प्रथम परिणाम को स्वीकार करने पर, यदि ज्ञान को प्रत्यक्ष करने में असमर्थ है, तब ज्ञान के स्वयं अदृष्टिगोचर होने के कारण, विषय का प्रत्यक्ष भी अदृष्टिगोचर हो जाता है। इस तरह इस विकल्प के अनुसार ज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। प्रथम परिणाम से भिन्न यदि द्वितीय परिणाम का स्वीकार किया जाता है, जहाँ कि किसी विषय के ज्ञान के ज्ञान के लिए ज्ञान की किसी अन्य क्रिया की अपेक्षा होती है, तो इस विकल्प का अन्ततः परिणाम अनवस्था दोष ही हो सकता है क्योंकि उस स्थिति में प्रत्येक ज्ञान के ज्ञान के हेतु अन्य ज्ञान की अपेक्षा सदव ही अन्तहीन रूप से बनी रहती है। इस अनवस्था दोष से बचाव का केवल एक ही मार्ग है कि हम माने कि सबज्ञान स्वप्रकाशी है, तथा कोई भी ज्ञान स्वयं अपने ज्ञान के हेतु किसी अन्य ज्ञान क्रिया की अपेक्षा नहीं करता।[२]

जयन्त ने भी, कुमारिल के परप्रकाशवाद के विपरीत विज्ञानवाद द्वारा प्रकाशवाद के पक्ष में प्रस्तुत तर्कों को निम्न रूप से उपस्थित किया है।

यदि यथार्थवादी यह स्वीकार करता है कि ज्ञान स्वयं को अभिव्यक्त करने में असमर्थ जड़ पदार्थों को प्रकाशित करता है, तब उसे यह भी स्वीकार

१ तत्त्व संग्रह श्लोक २०१२ १३ २१ २२।
२ तत्त्व संग्रह, श्लोक २०२५, २७ २८ तथा पंजिका।

कर लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि कोई ज्ञान तब तक किसी विषय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है जबतक कि उस ज्ञान का स्वयं उसके पूर्व प्रत्यक्ष नहीं कर लिया गया है क्योंकि जिस भाँति कि कोई दीपक बिना स्वयं दृष्टिगोचर हुए अन्य विषयों को प्रकाशित नहीं कर सकता है उसी तरह ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष हुए बिना अन्य विषयों का प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है ? यथार्थवादी यह कह सकता है कि किसी ज्ञान का उसकी उत्पत्ति के समय तथा उन क्षणों में ही जब कि वह अन्य विषयों को प्रकाशित कर रहा है प्रत्यक्ष करना असम्भव है। जयन्त ने इसके उत्तर में कहा है कि यदि ज्ञान को उसकी उत्पत्ति के साथ ही नहीं जान लिया जाता तो किसी अन्य समय में भी उसका प्रत्यक्ष फिर नहीं हो सकता, क्योंकि वह बाद में समान ही बना रहेगा और कोई नये गुण ग्रहण नहीं करेगा जिनके कारण कि किसी अन्य समय में उसका प्रत्यक्ष सम्भव हो सके [१]।

जयन्त की यह उक्ति न्याय स्थिति पर किये गये वेदान्तवादी उत्तर के समान ही है कि यदि किसी ज्ञान का उसके प्रथम ज्ञान-व्यवसाय के समय ही प्रत्यक्ष नहीं कर लिया जाता है तो फिर उसका प्रत्यक्ष कभी भी नहीं किया जा सकता। इस कारण, यथार्थवादी को मान लेना चाहिए कि किसी विषय का प्रत्यक्ष हो सके इसके पूर्व ही स्वयं ज्ञान का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है।[२] यह कहा गया है कि किसी विषय का तब तक प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है जबतक कि उसके ज्ञान का भी प्रत्यक्ष नहीं कर लिया जाता। 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिद्ध्यति।'[२]

किन्तु यथार्थवादी प्रत्युत्तर देता है कि ज्ञान यदि स्व प्रकाशी हो, तो उसका यह नीला है इस रूप में नहीं बल्कि 'मैं नीला हूँ' इस रूप में प्रगट होना आवश्यक है।[३] किन्तु यह आक्षेप मुश्किल से युक्तियुक्त प्रतीत होता है। ज्ञान के स्वप्रकाशत्व से यह अर्थ प्रयोजित नहीं है कि ज्ञान ज्ञाता है, या कि उनमें कोई विषयी अन्तर्भावित है। कोई ज्ञान यदि वह स्वयम् 'मैं' नहीं है तो 'मैं नीला हूँ' इस रूप में प्रकट नहीं हो सकता। अतः यथार्थवादी आलोचक विवाद बिन्दु के निकट नहीं है। उसका आक्षेप व्यर्थ है क्योंकि स्व प्रकाशत्व का अर्थ इस प्रस्ताव के बिना कि ज्ञान में कोई विषयी है या कि ज्ञान स्वयं को प्रत्यक्ष करता है केवल ज्ञान की अपरोक्ष दृष्टिगोचरता ही है।

---

१ न्याय मंजरी पृष्ठ ५३८।

२ न्याय मंजरी पृष्ठ ५३८ धर्मकीर्ति से उद्धृत।

३ न्याय मंजरी, पृष्ठ ५४१।

किए हैं, तथा एक अरक्षणीय सिद्धान्त के रूप में उसकी आलोचना प्रस्तुत की है।[१]

कुमारिल की मान्यता है कि ज्ञान में स्वप्रकाशत्व की कोई क्षमता नहीं है। ज्ञान की प्रकाशन शक्ति, उनके अनुसार, केवल बाह्य विषयों को प्रकाशित करने तक ही आबद्ध है। इसके प्रत्युत्तर में शान्तरक्षित ने कहा है कि ज्ञान को स्वप्रत्यक्ष होना ही चाहिए, क्योंकि, ज्ञान जब किसी विषय का प्रत्यक्ष करता है, तब उसे उससे या तो भिन्न होना चाहिए या अभिन्न होना चाहिए। यदि ज्ञान विषय से भिन्न है तब वह उसका प्रत्यक्ष कभी भी नहीं करता, और यदि वह उससे अभिन्न है तब विषय के प्रत्यक्षीकरण में स्वयं उसका प्रत्यक्ष भी अनिवार्यतः हो जाता है।

इस कारण शान्तरक्षित का कथन है कि यदि ज्ञान को स्वप्रकाशी नहीं माना जाता तो निम्न दो परिणाम में से किसी एक का स्वीकार आवश्यक हो जाता है। एक ओर या तो विषय अप्रत्यक्षीकृत छूट जाता है, या दूसरी ओर अनवस्था दोष की स्थिति पदा हो जाती है। प्रथम परिणाम को स्वीकार करने पर, यदि ज्ञान का प्रत्यक्ष करना असम्भव है, तब ज्ञान के स्वयं अदृष्टि गोचर होने के कारण, विषय का प्रत्यक्ष भी अदृष्टिगोचर हो जाता है। इस तरह इस विकल्प के अनुसार ज्ञान का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। प्रथम परिणाम से भिन्न यदि द्वितीय परिणाम को स्वीकार किया जाता है, जहाँ कि किसी विषय के ज्ञान के ज्ञान के लिए ज्ञान की किसी अन्य क्रिया की अपेक्षा होती है तो इस विकल्प का अन्ततः परिणाम अनवस्था दोष हो हो सकता है, क्योंकि उस स्थिति में प्रत्येक ज्ञान के ज्ञान के हेतु अन्य ज्ञान की अपेक्षा सदव ही अन्तहीन रूप से बनी रहती है। इस अनवस्था दोष से बचाव का केवल एक ही मार्ग है कि हम मानें कि समज्ञान स्वप्रकाशी है, तथा कोई भी ज्ञान स्वयं अपने ज्ञान के हेतु किसी अन्य ज्ञान क्रिया की अपेक्षा नहीं करता।[२]

जयन्त ने भी, कुमारिल के परप्रकाशवाद के विपरीत विज्ञानवाद द्वारा प्रकाशवाद के पक्ष में प्रस्तुत तर्कों को निम्न रूप से उपस्थित किया है।

यदि यथार्थवादी यह स्वीकार करता है कि ज्ञान स्वयं का अभिव्यक्त करने में असमर्थ जड़ पदार्थों को प्रकाशित करता है, तब उसे यह भी स्वीकार

१ तत्त्व संग्रह श्लोक २०१२ १३ २६ २२।
२ तत्त्व संग्रह, श्लोक २०२५ २७ २८ तथा पंजिका।

कर लेने मे कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि कोई ज्ञान तब तक किसी विषय का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता है जबतक कि उस ज्ञान का स्वय उसके पूर्व प्रत्यक्ष नहीं कर लिया गया है, क्योंकि जिस भाँति कि कोई दीपक बिना स्वय दृष्टिगोचर हुए अन्य विषयों को प्रकाशित नहीं कर सकता है उसी तरह ज्ञान स्वय प्रत्यक्ष हुए बिना अन्य विषयों का प्रत्यक्ष कैसे कर सकता है? यथार्थवादी यह कह सकता है कि किसी ज्ञान का उसकी उत्पत्ति के समय तथा उन क्षणों में ही जब कि वह अन्य विषयों को प्रकाशित कर रहा है प्रत्यक्ष करना असम्भव है। जयन्त ने इसके उत्तर मे कहा है कि यदि ज्ञान को उसकी उत्पत्ति के साथ ही नही जान लिया जाता तो किसी अन्य समय म भी उसका प्रत्यक्ष फिर नहीं हो सकता, क्योंकि वह बाद म समान ही बना रहेगा और कोई नये गुण ग्रहण नहीं करेगा जिनके कारण कि किसी अन्य समय में उसका प्रत्यक्ष सम्भव हो सके[1]।

जयत की यह उक्ति न्याय स्थिति पर किये गये वेदान्तवादी उत्तर के समान ही है कि यदि किसी ज्ञान का उसके प्रथम ज्ञान-व्यवसाय के समय ही प्रत्यक्ष नहीं कर लिया जाता है, तो फिर उसका प्रत्यक्ष कभी भी नहीं किया जा सकता। इस कारण, यथार्थवादी को मान लेना चाहिए कि किसी विषय का प्रत्यक्ष हो सके इसके पूर्व ही स्वय ज्ञान का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है।[2] यह कहा गया है कि किसी विषय का तब तक प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, जबतक कि उसके ज्ञान का भी प्रत्यक्ष नही कर लिया जाता। 'अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टि प्रसिद्धयति।'[2]

किन्तु यथार्थवादी प्रत्युत्तर देता है कि ज्ञान यदि स्व प्रकाशी हो, तो उसका 'यह नीला है' इस रूप में नही बल्कि 'मैं नीला हू' इस रूप मे प्रगट होना आवश्यक है।[3] किन्तु यह आक्षेप मुश्किल से युक्तियुक्त प्रतीत होता है। ज्ञान के स्वप्रकाशत्व से यह अर्थ प्रयोजित नहीं है कि ज्ञान ज्ञाता है, या कि उनमें कोई विषयी अन्तर्भावित है। कोई ज्ञान यदि वह स्वयम 'मैं' नहीं है तो 'मैं नीला हू' इस रूप में प्रगट नहीं हो सकता। अत यथार्थवादी आलोचक विवाद बिन्दु से निकट नही है। उसका आक्षेप व्यर्थ है क्योंकि स्व प्रकाशत्व का अर्थ इस प्रस्ताव के बिना कि ज्ञान में कोई विषयी है या कि ज्ञान स्वय को प्रत्यक्ष करता है केवल ज्ञान की अपरोक्ष दृष्टिगोचरता ही है।

---

१ न्याय मजरी पृष्ठ ५३८।

२ न्याय मञ्जरी पृष्ठ ५३८ धर्मकीर्ति से उद्धृत।

३ न्याय मंजरी, पृष्ठ ५४१।

स्व प्रमाणत्व तथा स्व प्रकाशत्व कुमारिल दर्शन की एक असंगति

मीमांसा दर्शन सम्पूर्ण ज्ञानो की यथार्थता तथा सत्यता के असाधारण दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध है। इस दृष्टिकोण को जैमिनी सूत्र १ २ तथा ५, से लिया गया है तथा कुमारिल और प्रभाकर दोनो ने अपने अपने ग्रन्थ श्लोक वार्तिक तथा बृहती में उसे विकसित किया है। कुमारिल श्लोकवार्तिक के द्वितीय सूत्र में इसकी व्याख्या करते हैं। यह निरूपित किया गया है कि सब ज्ञान, जसे ही व उद्भूत होते हैं अन्तरस्थ रूप से प्रामाणिकता प्राप्त कर लेते हैं।

इस तरह ज्ञान में प्रमाणत्व के अन्तरस्थ गुण की प्रस्तावना से प्रारम्भ करने के कारण, अनुगामी खोज द्वारा जो कुछ सिद्ध करने को रह जाता है, वह उनकी प्रामाणिकता नहीं बल्कि अप्रामाणिकता है। यह प्रश्न पूछा गया है कि ज्ञान का प्रमाणत्व निहित कहाँ हो सकता है? वह या तो स्वयं उसमें ही निहित हो सकता है या उसके बाहर ज्ञानेन्द्रियों की कार्य कुशलता आदि में निहित हो सकता है। किन्तु, यदि ज्ञान की प्रामाणिकता बाह्य स्थितियों पर निर्भर होती है और मूलत उसका सम्बन्ध स्वयं ज्ञान से ही नहीं होता तो हमारा, व्यावहारिक अनुभव जसा है वसा नहीं हो सकता क्योंकि तब हमे जीवन के व्यावहारिक कार्यों के लिए उस समय तक राह देखनी होगी जब तक कि ज्ञान के बाह्य मन्त्र की प्रामाणिकता असन्दिग्ध रूप से स्थापित न हो जाती। इस कारण यह विकल्प सम्भव नहीं है।

हम एक उदाहरण लेकर देखें, यदि कोई व्यक्ति लिखने की इच्छा से, किसी कलम को देखता तथा तथा उसे उठाता है, तो यह उसका अपना प्रत्यक्षी करण की प्रामाणिकता में विश्वास की मान्यता के अनुसार ही करता है। उसका ज्ञान ही स्वयं उसका प्रमाण है। ज्ञान का प्रमाण कहीं बाहर से नहीं स्वत उसके अपने भीतर से ही आता है। कोई भी साधारणतया कलम के प्रत्यक्ष के बाद यह विचारने नहीं बठता है कि मुझे सोचना चाहिए कि क्या मेरा यह प्रत्यक्ष प्रमाणिक है क्योंकि वह ठीक उसी भाँति अप्रमाणिक भी हो सकता है? क्या मेरी इन्द्रियाँ परिपूर्ण रूप से ठीक स्थिति में हैं तथा क्या ज्ञान की अन्य परिस्थितियाँ भी एक प्रमाणिक प्रत्यक्ष की सम्भावना के पक्ष में है? क्या मैं सुनिश्चित हूँ कि जो वस्तु मैंने अभी देखी है यह कोई अन्य वस्तु नहीं, कलम ही है? यदि प्रत्यक्ष के पश्चात् व्यवहार तक आने की यह सामान्य प्रक्रिया होती तो जीवन की समस्त व्यावहारिक क्रियाशीलता अवतक कभी की अवरुद्ध हो चुकी होती। इस स्थिति म जीवन की स्थिति सम्भव ही कसे हो सकती थी? किन्तु सौभाग्य से वस्तुस्थिति ऐसी कदापि

नहीं है, और इससे हमारे ज्ञान, की स्वत प्रामाणिकता सिद्ध होती है। ज्ञान स्वय या तो हमारी ज्ञानेन्द्रिया के सदोष होने के कारण पदा होते हैं या पश्चात् ज्ञान द्वारा जिनका बाध होता है। इन ज्ञानो के अतिरिक्त सबज्ञान स्वत प्रमाण सत्य होते हैं।[१]

कुमारिल भाग भी कहते हैं कि यदि ज्ञान म स्वत प्रमाण होने की यह शक्ति न होती, तो इस शक्ति को फिर उसम किसी भी रूप से किसी अन्य के द्वारा पदा नहीं किया जा सकता था। ज्ञान की प्रामाणिकता को यदि स्वत से भिन्न किन्हीं अन्य परिस्थितियों पर निभर बनाया जाता है तो यह प्रक्रिया ज्ञान की प्रामाणिकता का तो किंचित भी सिद्ध नहीं करती है बल्कि उसके विपरीत हमें केवल अनवस्था दोष की ओर उन्मुख कर जाती है। इस कारण ज्ञान क स्वत प्रमाणत्व का सिद्धान्त ही युक्तियुक्त तथा साधक है। इस तरह जब कि ज्ञान मीमासाशास्त्र के अन्य पद्धतियों में यह ज्ञान का प्रमाणत्व ह जो कि सुनिश्चित किया जाता है, वहीं मीमांसा की ज्ञानमीमासा म इस स्वत प्रमाणवाद के कारण इसके ठीक विपरीत, यह ज्ञान की अप्रामाणिकता ह, जिसे कि प्रस्थापित करना होता ह। किसी प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता उसके बाहर से परत नहीं आ सकती ह, और उस समय भी, जब कि काई प्रत्यक्ष बाद में बधित तथा असिद्ध सिद्ध होता ह पूवज्ञान से मूलत सम्बधित प्रामाणिकता ही केवल असिद्ध होती ह। पूव ज्ञान म यह प्रामाणिकता यदि पूव से ही निहित हो तो बाद में उसे उससे छीना भी नहीं जा सकता।

यह प्रश्न स्वाभाविक ही है कि स्वत प्रमाणत्व अथवा ज्ञान की अन्तरस्थ प्रामाणिकता का सिद्धान्त स्वत प्रकाशत्व या ज्ञान की अन्तरस्थ ज्ञेयता के सिद्धान्त से किस भाँति सम्बन्धित है। यह स्पष्ट दीखता है कि दोनों सिद्धान्त एक दूसर म अन्तर्भावित हैं। दोनों यदि वस्तुत तादात्म्यक नहीं तो कम से कम एक दूसरे के पूरक तो प्रतीत होते ही हैं। यह कहना कि ज्ञान आन्तरिक रूप से प्रामाणिक है, वस्तुत यही कहना है कि वह स्व प्रकाशी है। स्वत प्रमाणत्व का अथ स्वत ज्ञानत्व से भिन्न और क्या हो सकता है। जिस तरह काई किसी पदाथ का प्रत्यक्ष करने के समान जब कुछ जानता है तो वह यह दावा भी प्रगट नहीं करता कि क्या वस्तुत उस पदाथ का प्रत्यक्ष कर रहा है उसी भाँति कोई जब कुछ जानता है तो वह यह दावा भी प्रगट नहीं करता है कि क्या उसने वस्तुत कुछ जाना भी है। इसका कारण यह है कि दोनों ही

१ श्लोक वार्तिक सूत्र २।

स्थितियों म ज्ञान का बोध अपनी अभिव्यक्ति को स्वत अपने ही साथ लेकर चलता है। ज्ञान यदि स्वप्रकाशी न होता और अपने बोध के लिए उसे किसी अन्य पर निर्भर रहना पड़ता तो उसकी आन्तरिक प्रामाणिकता को भी अपरोक्ष तथा सीधे रूप से प्रस्थापित नहीं किया जा सकता। स्वत प्रामाण्यत्व तथा स्वत प्रकाशत्व की धारणाओं में यदि कोई भेद करना सम्भव है तो केवल यही कहा जा सकता है कि ज्ञान की अन्तरस्थ प्रामाणिकता की धारणा ज्ञान की अन्तरस्थ ज्ञेयता को पूर्व प्रस्तावित करती है।

स्वत प्रमाणत्व की धारणा में कोई यदि स्वत, प्रकाशत्व से कुछ अधिक देख पाने के प्रयास में लगा हुआ है तो उसका श्रम निरर्थक है, क्योंकि ये स्वरूपत तादात्म्यक धारणायें हैं। स्वत प्रमाणत्व का अर्थ स्वत ज्ञेयत्व से किंचित भी अधिक और अतिरिक्त नहीं है। यह वक्तव्य धर्मकीर्ति के प्रसिद्ध वक्तव्य के समान ही है कि कोई यदि ज्ञान के अपरोक्ष रूप स ज्ञेय होने में विश्वास नहीं करता है, तो वह किसी भी वस्तु के ज्ञान को प्रस्थापित नहीं कर सकता। इसी तरह स्वत ज्ञेयत्व की धारणा के अभाव में स्वतः प्रमाणत्व की धारणा को भी प्रस्थापित नहीं किया जा सकता है। इसके साथ ही साथ अनवस्था दोष, तथा प्रत्यक्षीकरण की असम्भावना की करीब-करीब समग्र युक्तियाँ, जो ज्ञान के परतः या बाह्य प्रमाणत्व के विरुद्ध प्रस्तुत की जाती हैं, ज्ञान के अ-स्वप्रकाशी स्वभाव के सिद्धान्त के विपरीत भी लागू होती हैं। हमारा विचार यह है कि उपरोक्त दोनो धारणाओं म मुश्किल से ही किसी भाँति का महत्वपूर्ण भेद निरूपित किया जा सकता है।

तथापि यह परयन्त आश्चर्यजनक है कि कुमारिल, जो कि अपने श्लोक वार्तिक के द्वितीय सूत्र में स्वत प्रमाणत्व के सिद्धान्त को प्रस्थापित करते हैं स्वय ही किस भाँति बाद में उसी वार्तिक के शून्यवाद खण्ड में ज्ञान के स्वत, प्रकाशत्व के सिद्धान्त के विपरीत चले जाते हैं। स्वत प्रकाशत्व की धारणा की कुमारिल द्वारा प्रस्तुत आलोचना प्रथम दृष्टया ही अर्थ-शून्य से समर्थित प्रतीत होती है। यह परयन्त प्रभावहीन और असन्तोषजनक है। कुमारिल द्वारा स्वतः प्रकाशत्व के विरोध में कोई भी गम्भीर युक्ति प्रस्तुत नहीं की गई है। यह कथन तो निश्चित ही उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है कि ज्ञान चक्षु प्रकाश की भाँति है जो कि स्वयं को नहीं, किन्तु केवल अन्य विषयों को ही प्रकाशित करता है।

स्वयं को प्रकाशित कर सकना चक्षु की क्षमता के बाहर है। ज्ञान की स्थिति भी चक्षु की ही तरह है। वह भी स्वय को प्रकाशित करने में असमर्थ है।

हमने अन्य स्थान[1] पर चक्षु और ज्ञान के साधर्म्य की अनुपयुक्तता के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया है, तथा ज्ञान या चेतना के अ-स्वप्रकाशत्व की परिकल्पना की कठिनइयों को भी दर्शाया है। इस कारण इस स्थल पर विस्तार में जाना तो सम्भव नहीं है फिर भी यह विचारणीय है कि क्या कोई ज्ञान की स्वत प्रामाणिकता के सिद्धान्त को मानते हुए भी एक ही साँस में विवेकपूर्ण रीति से ज्ञान की स्वज्ञेयता के सिद्धान्त को अस्वीकृत कर सकता है।

यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जा कुछ अन्तरस्थ रूप से स्व ज्ञेय नहीं है उसे अन्तरस्थ रूप से स्व प्रामाण्य भी प्रस्थापित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जो अपने ज्ञेयत्व के हेतु पश्चात ज्ञानों और अनुमानों पर निभर है, वह स्वय अपनी प्रामाणिता के प्रतिकूल कसे हो सकता है, और इस स्थिति म प्रमाणत्व आंतरिक नहीं, बल्कि बाह्य परिस्थितियों पर निभर बाह्य प्रमाणत्व या परत प्रमाणत्व ही हो सकता है। अनवस्था दोष से बचने के लिये यदि ज्ञान की अन्तरस्थ स्व प्रामाणिकता को स्वीकृत किया जाता है तो ज्ञान की अन्तरस्थ स्व ज्ञेयता के सम्बन्ध मे यही दृष्टि ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। कुमारिल ने यह स्वीकार किया है कि यदि प्रमाणत्व ज्ञान से आन्तरिक तथा स्वरूप से सम्बन्धित नहीं है तो उसे उस पर बाहर से किसी भी भाँति नहीं थोपा जा सकता है। ज्ञान के स्वज्ञेयत्व के सम्बन्ध म भी स्थिति पूर्णरूपेण यही है। ज्ञान का ज्ञेयत्व यदि ज्ञान के प्रथम चरण मे ही उससे आतरिक और स्वरूपत सम्बन्धित नही है तो उस पश्चात् की किसी भी अवस्था म किसी भी रूप से उसमे प्रविष्ट नहीं किया जा सकता है।

ज्ञान या तो ज्ञात हो सकता है या अज्ञात, और यदि यह ज्ञात है, तब यह मानना ही कहीं अधिक युक्तियुक्त और सन्तोषजनक है कि यह अपरोक्षतया ज्ञात है, बजाय इसके कि यह तत्पश्चात ज्ञात बनता है। यह दृष्टिकोण तो माना ही नहीं जा सकता है कि ज्ञान अज्ञात है क्योंकि प्रथमत तो यह मानना ही अविवेकपूर्ण होगा कि विषय, ज्ञान के बिना स्वय ज्ञेय बने ही ज्ञेय बन जाते हैं तथा द्वितीयत, विचार के समग्र मतवाद इस बात को स्वीकार करने म सहमत हैं कि ज्ञान किन्हीं साधनों द्वारा किसी अवस्था म ज्ञेय अवश्य बनता है।

---

१ चतुर्थाध्याय।

विषयीवाद के विरोधी विचारक इतने भयभीत प्रतीत होते हैं। यह कहने का अर्थ भी कि ज्ञान स्वतः प्रकाशी है, बौद्ध विज्ञानवाद के साथ उसके ज्ञान विषय की अपेक्षा की परिकल्पना को मान्यता प्रदान करना नहीं है। विषय-जगत की अपेक्षा तथा ज्ञान के स्वतः प्रमाणत्व या स्वतः प्रकाशत्व का, सिद्धान्त तादात्म्यक नहीं है, तथापि इन दोनों धारणाओं को दुर्भाग्यवश बहुधा भ्रान्त किया गया है, और एक को दूसरे में अन्योन्याश्रित रूप से उपलक्षित माना गया है। स्थिति अत्यन्त दुखद है। शंकर और प्रभाकर के अपवादों को छोड़ कर अन्य किसी भी दार्शनिक ने ज्ञान की स्वतः अपेक्षा तथा ज्ञान की निरपेक्ष विषयीगतता की दो स्वरूपतः भिन्न धारणाओं को और उनसे सम्बद्ध समस्याओं को पृथक करने का प्रश्न नहीं उठाया है। प्रथम धारणा, ज्ञानमीमांसाशास्त्र की समस्या की तरह, विषयों की सत्ताशास्त्रीय स्थिति की अनुत्तर धारणा से, विषय विस्तार में स्पष्ट रूप से अत्यन्त संकीर्ण है। यह देख पाना कठिन है कि ज्ञान के स्वतः प्रमाणत्व के ज्ञानमीमांसात्मक सिद्धान्त का यथार्थ के सम्बन्ध में प्रतिपादित मानसिक विषयीवाद के तत्त्वमीमांसात्मक सिद्धान्त से किसी भी रूप में तादात्म्य नहीं किया जा सकता।

कुमारिल की स्थिति इस भ्रांत तादात्म्य पर ही निर्भर है और इस कारण जो असंगति उनकी प्रणाली में आ गई है वह यह है कि या तो ज्ञान अनिवार्य रूप से स्वतः प्रमाणित नहीं है या फिर वह अनिवार्य रूप से स्वतः ज्ञेय भी है। यह सम्भव नहीं है कि कुमारिल एक धारणा को ग्रहण कर लें और दूसरे से इन्कार कर दें। दोनों धारणायें या तो साथ ही साथ खड़ी होती हैं या साथ ही साथ गिर जाती हैं। स्वतः प्रमाणत्व का स्वीकार और स्वतः ज्ञेयत्व का विरोध एक साथ ही किसी भी भांति नहीं किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह जान लेना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि कुमारिल जो भूल करते हैं, वह प्रभाकर नहीं करते। प्रभाकर कुमारिल से ज्ञान के स्वतः प्रमाणत्व के साथ ही साथ ज्ञान के स्वतः ज्ञेयत्व के सिद्धान्त का भी मान्यता प्रदान करते हैं, और इस तरह अपनी दर्शन प्रणाली को एक ऐसी असंगति से बचा लेते हैं जिससे कि कुमारिल की प्रणाली को आन्तरिक आघात पहुँचा है।

स्वतः प्रकाशत्व की श्रीधर द्वारा आलोचना

श्रीधर इस कथन के साथ प्रभाकर की आलोचना में प्रवृत्त होते हैं कि ज्ञान आवश्यक रूप से स्वतः चेतन नहीं होता है, तथा चेतना में भी आवश्यक रूप से स्व चेतना समाविष्ट नहीं होता है। उदाहरणार्थ, 'यह घट है'

में विषयी तथा ज्ञान का नहीं, केवल विषय घट का ही प्रत्यक्ष है।[१] प्राथमिक ज्ञान अनिवार्यरूपेण सदैव केवल विषय का ही होता है। इस प्राथमिक ज्ञान का द्वितीय ज्ञान 'मैं घट को जानता हूं' में प्रत्यक्ष किया जा सकता है, किन्तु यह सर्वदा ही नहीं होता। यह द्वितीय चेतना स्वयं तथा विषयी को उद्घाटित करती है किन्तु इसमें भी विषयी के ज्ञान द्वारा विशेषित घट का मानसिक प्रत्यक्ष ही होता है।[२] इस कारण, श्रीधर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ज्ञान मूलतः तथा स्वयं अपने में स्वचेतन नहीं है। चेतना तथा स्वचेतना दोनों को ही एक ही स्तर पर लाना स्पष्टतः बहुत ज्यादती है। इस तरह जब कि ज्ञान की चेतना की सम्भावना से श्रीधर इंकार नहीं करते वह इससे इंकार जरूर करते हैं कि प्राथमिक ज्ञान अपनी स्वचेतना या ज्ञेयत्व को अपने साथ लिए रहता है। उनके अनुसार चेतना स्वतः ज्ञेय इस कारण नहीं है, क्योंकि हमारे पास एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें कि एक ही और वही वस्तु विषय और उपकरण दोनों होती हैं।[३] दीपक भी जो कि मनुष्य द्वारा जाना जाता है आंख द्वारा ज्ञेय बनता है। किन्तु यह आक्षेप वस्तु स्थिति की भ्रांति पर आधारित है। यह तथ्य कि दीपक आंख द्वारा ज्ञेय बनता है, दीपक के प्रकाश को उसी प्रकार अप्रकाश मान नहीं बनाता जिस तरह कि कुछ विशेष परिस्थितियों के अभाव में सूर्य का प्रकाशित न होना उसे अ-स्व प्रकाशी नहीं बनाता। चेतना का स्व प्रकाशत्व, प्रत्यक्षीकरण के सामान्य मनोविज्ञान के किसी प्रतिवाद में स्वीकृत नहीं किया गया है, किन्तु वह केवल यही घोषित करता है कि जब कभी भी चेतना का उद्भव होता है तब उसका ज्ञान भी तत्क्षण ही बिना उसे जानने की किसी अन्य मानसिक प्रक्रिया के हो जाता है। किन्तु श्रीधर पूछते हैं वह क्या है जिसका कि ज्ञान होता है? यह कोई विषय है जिसका कि ज्ञान होता है या कि ज्ञान ही है जिसका ज्ञान होना है? और यदि ज्ञान ही है जिसका कि ज्ञान होना है तब किसी विषय के ज्ञेय बनने के स्थान पर कहना होगा कि यह स्वयं ज्ञान ही है जिसका प्रत्यक्ष होता है।

श्रीधर के खंडन में कहा जा सकता है कि उनका प्रतिवाद एक अनावश्यक युक्तिवाद प्रतीत होता है क्योंकि ज्ञान कभी भी ज्ञात के विषय से भिन्न नहीं होता है। सम्पूर्ण ज्ञान किसी न किसी विषय का ही ज्ञान है और

१ न्याय कन्दली पृष्ठ ९१
२ न्याय कंदली पृष्ठ ९२
३ न्याय कन्दली पृष्ठ ९० ९१

अतएव ज्ञान के स्वतः प्रकाशत्व की अपेक्षा घटना भी किसी विषय के ज्ञान की ही घटना है। श्रीधर यहाँ ज्ञान तथा ज्ञान के विषय में पूर्ण विभेद करते हैं, जो कि मुश्किल से ही न्याययुक्त कहा जा सकता है। यदि, 'मैं घट को देखता हूँ' में ज्ञान का कोई ज्ञान नहीं है, तब स्वतः घट के ज्ञान के यथार्थ अस्तित्व की प्रतिभू क्या है, जिसे कि यथार्थवादी पूर्व स्वीकृत ही मान लेता है? श्रीहर्ष ने यथार्थवादी के इन्हीं शिक्षा में उसके सिद्धान्त का प्रतिवाद प्रस्तुत किया है। वह स्वतः ज्ञान के ही अस्तित्व की उस प्रतिभू की माँग करते जिसके ऊपर कि अन्य समस्त क्रियायें निर्भर होती हैं, यथार्थवादी के ही शस्त्र से उसका मुकाबिला करते हैं। *श्रीहर्ष ने पूछा है कि यह निर्दिष्ट करने को* क्या है कि ज्ञान यथार्थ है और वह अयथार्थ क्यों नहीं हो सकता है? ज्ञान का जब कभी भी उद्भव होता है तब यह सन्देह कभी नहीं जागता है कि 'क्या मैं जान रहा हूँ या 'क्या मैं नहीं जान रहा हूँ?' जिससे कि यह स्पष्ट तथा सिद्ध और प्रगट होता है कि ज्ञान स्व प्रकाशी है। उसे जानने के लिए न किसी और क्रिया की अपेक्षा है, और न वह अज्ञेय ही है, बल्कि उसका ज्ञान स्वयं उसमें ही निहित होता है।

स्व प्रकाशत्व की जयन्त द्वारा आलोचना

आचार्य जयन्त भट्ट की न्याय मंजरी में चेतना के स्व प्रकाशत्व पर हमें सर्वाधिक तीव्र आलोचना प्राप्त होती है। उनकी आलोचना में चेतना के पर प्रकाशत्व के स्वभाव पर जो दिया गया है, तथा चेतना के अपरोक्षत्व की धारणा के खण्डन का सफल प्रयास किया गया है, जो कि स्व प्रकाशत्व का ही उपसिद्धान्त है। *इस तरह जयन्त की आलोचना को इन दोनों सीमाओं* में परिबद्ध कहा जा सकता है। चेतना के स्वप्रकाशत्व का सिद्धान्त चेतना *की अपरोक्षानुभूति के सिद्धान्त का ही सहयोगी है जिसका विरोध भी महान* यथार्थवादी आचार्य जयन्त द्वारा उनकी उपलक्षणाओं के कारण आवश्यक हो जाता है।

जयन्त के अनुसार चेतना स्वयं को नहीं, केवल पर-पदार्थों का ही प्रकाशित करने में समर्थ है। वह स्व प्रकाशी नहीं है, क्योंकि वह जब अन्य विषयों का प्रत्यक्ष करती होती है तो उस समय स्वयं को प्रकाशित नहीं करती। वह चक्षु में स्थित प्रकाश की भाँति है, जो किसी विषय को तो प्रकाशित करता है किन्तु स्वयं को प्रकाशित करना उसकी सामर्थ्य में नहीं है। चेतना के स्व प्रकाशत्व में न तो प्रमाण ही है और न विषयों के ज्ञान के हेतु उसके

ज्ञान की कोई आवश्यकता ही है। आँख को जिस तरह किसी पदार्थ के रंग को अभिव्यक्त करने के हेतु स्वयं प्रकाशित होना आवश्यकीय नहीं है उसी तरह ज्ञान को भी अपने विषय को प्रकाशित करने के लिए स्वयं प्रकाशित ज्ञान की कोई अपेक्षा प्रतीत नहीं होती हैं। स्व प्रकाशन पर प्रकाशन के हेतु आवश्यक नहीं है। ज्ञान का मौलिक स्वरूप स्वयं को नहीं, बल्कि केवल अपने विषय को प्रकाशित करना है।

जयन्त की इस अरक्षणीय स्थिति का प्रत्युत्तर वेदान्तवादी तथा विज्ञानवादी द्वारा पहले ही यह दिया जा चुका है कि यदि ज्ञान स्वयं ज्ञात नहीं बनता है तो उसका विषय भी ज्ञात नहीं हो सकता है। यह प्रस्तावित करना स्वतः बाधित है कि ज्ञान का विषय दृष्टिगोचर नहीं है। अप्रकाशित स्वयं प्रकाशित हुए बिना किसी विषय को प्रकाशित नहीं कर सकता। चक्षु का साधर्म्य दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है, क्योंकि चक्षु का प्रकाश न तो ज्ञाता है और न ज्ञान है। चक्षु प्रकाश उसी तरह की वस्तु नहीं है जैसा कि चेतना का प्रकाश (चित् प्रकाश) है। आँख, पौद्गलिक दीपक, और चैतन्य चेतना के प्रकाश में स्पष्ट भेद करना अत्यन्त आवश्यक है। इन विभिन्न स्वरूपी प्रकाशों में आंशिक समानता के आधार पर तादात्म्य करने की भूल के कारण ही वादानुवाद में अधिकांश भ्रांति का जन्म हुआ है। चक्षु एक उपकरण मात्र है और अतः यह स्वयं गुप्त रहते हुए भी किसी पदार्थ को प्रकाशित करने के प्रयोजन को पूरा कर सकती है। उससे भिन्न, दीपक केवल अँधेरे को दूर करने के अर्थ में ही प्रकाश देता है जब कि यह केवल चेतना का ही प्रकाश है जो कि विषय प्रधान या विषय के, प्रत्यक्ष के विपरीत उस विषय को ज्ञात बनाने के अर्थ में प्रकाश देता है। चित् प्रकाश इस प्रकार प्रकाश के शेष प्रकारों से मूलतः और अन्तरस्थ रूप से भिन्न है। वह सुचेतन प्रकाश है और उसका चक्षु या दीपक के अचेतन प्रकाश से किसी भी तरह तादात्म्य नहीं किया जा सकता है। यह, इस दृष्टि से अपूर्व और अद्वितीय है और केवल स्वयं ही अपना उदाहरण है।

यथार्थवादी तथा प्रत्ययवादी दोनों के द्वारा ज्ञान के स्व प्रकाशत्व के सम्बन्ध में अपनी अपनी स्थिति को व्यक्त तथा निश्चित करने के हेतु प्रयोग में लाये गये साधर्म्य दृष्टान्तों पर एक दृष्टिपात करना महत्वपूर्ण होने के साथ ही साथ कौतुकपूर्ण भी है। वेदान्तवादी दीपक के प्रकाश, तथा यथार्थवादी चक्षु के प्रकाश को अपने अपने दृष्टि बिन्दु को प्रस्थापित करने के हेतु प्रयोग में लाते हैं, किन्तु वस्तुतः दोनों ही यह

विस्मृत कर देते प्रतीत होते हैं कि चेतना वस्तुतः इन दोनों में किसी के भी प्रकार या स्वरूप की नहीं है। विवाद में यह भी बहुधा भुला दिया है कि दीपक या चक्षु के प्रकाशों को केवल एक विशेष ज्ञानमीमांसात्मक विज्ञप्ति के अर्थ को ही अभिव्यक्त करने के लिए प्रयोग में लाया जाता है। प्रत्ययवादी द्वारा जब दीपक के दृष्टान्त को यह दिखाने के लिए प्रस्तुत किया जाता है कि ज्ञान का उसी तरह स्व-प्रकाश होना आवश्यक है जिस तरह कि दीपक स्व-प्रकाशक है, तो जयन्त इस युक्ति को दोषयुक्त सिद्ध करते हैं। उनका कथन है कि यह साधर्म्य सदोष है, क्योंकि ज्ञान अपने विषय को उस अर्थ से बिल्कुल भिन्न अर्थों में प्रकाशित करता है जिसमें कि दीपक अपने विषय को प्रकाशित करता है। दीपक और चेतना में तात्त्विक भेद है। प्रकाश-स्वभावी होने मात्र से दोनों एक नहीं हो पाते। यह सत्य है कि दोनों ही प्रकाश स्वभावी हैं, किन्तु तब भी दोनों में मूलतः भेद है क्योंकि जब कि चेतना चेतन है तब दीपक चेतन नहीं है। चेतन अचेतन का यह भेद अत्यन्त आन्तरिक और मौलिक है, और इस कारण हम यह युक्ति प्रस्तुत नहीं कर सकते कि जिस अन्य विषयों को प्रकाशित करने के पूर्व दीपक के प्रकाश को स्वयं प्रत्यक्षीकृत होना चाहिए उसी भाँति ज्ञान को भी अन्य विषयों को अभिव्यक्त करने के हेतु उनसे पूर्व स्वयं प्रकाशित होना आवश्यक है।[1] इसके ठीक विपरीत जयन्त की युक्ति के ही आधार पर कोई यह सुझाव भी प्रस्तुत कर सकता था कि दीपक तथा चेतना के मध्य इस मौलिक भेद की गणना दीपक के बजाय चेतना के स्व-प्रकाशत्व के पक्ष में ही अधिक होना चाहिए। किन्तु जयन्त इस युक्ति को आधार मानकर एक बिल्कुल भिन्न निष्पत्ति पर पहुँचते हैं। इस युक्ति से वह जो निष्कर्ष लेते हैं वह चेतना के स्वरूप को स्वप्रकाशी के विपरीत पर-प्रकाशी सिद्ध करता है।

चेतना के स्व-प्रकाशत्व के विरोध में जयन्त की द्वितीय युक्ति यह है कि हमें जगत में कभी भी किसी स्व-प्रकाश स्वरूपी विषय का अनुभव नहीं होता है।[2] प्रत्ययवादी द्वारा जयन्त की इस युक्ति के विरोध हेतु प्रकाश तथा शब्द को इस तरह के विषयों की भाँति प्रस्तुत किया जाता है जो स्व-प्रकाशी की तरह अनुभव में आते हैं। किन्तु जयन्त इस प्रत्युत्तर को मानने को तैयार नहीं हैं। उनके अनुसार शब्द तथा प्रकाश किसी भी रूप में स्व-प्रकाशी नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे भी अपने प्रकाशन के लिए अन्य परिस्थितियों पर निर्भर रहते

---

१ न्याय मंजरी पृष्ठ ५४२।

२ न्याय मंजरी पृष्ठ ५४२।

है। जयन्त भी स्वतः प्रकाशत्व के विरोध मे श्रीधर के ही समान ज्ञान के मनोविज्ञान के इस तथ्य को प्रस्तुत करते हैं कि ज्ञान स्वतः प्रकाशी नहीं है क्योंकि वह भी अपने प्रकाशन में 'स्व' से भिन्न अन्य तथ्यो पर निर्भर होता है। इस तथ्य का बोध नहीं होता है। अनुगामी तथा उत्तरोत्तर ज्ञान के द्वारा केवल ज्ञान के ज्ञान का ही बोध होता है। यह अनुभव नहीं किया गया है कि चेतना के स्वतः प्रकाशत्व का सिद्धान्त अवेद्यत्व तथा वेद्यत्व के मध्य एक तृतीय सम्भावना के विकल्प की स्थापना मात्र करता है। यह प्रतिपादित किया गया है कि चेतना अवेद्य है, और न वेद्य है क्योंकि वह स्व-वेद्य है। चित्सुख, स्व चेतना की परिभाषा इस तरह करते हैं, 'अवेद्यत्वे सति अपरोक्ष व्यवहार योग्यता।'[१] अपरोक्षत्व के कारण 'वेद्य तथा अवेद्यत्वे सति व्यवहार योग्यता' के मध्य इस भेद की ही वह सम्भावना है जिसे कि यथार्थवादी द्वारा इस वाद विवाद में विस्मृत कर दिया गया है।

किन्तु जयन्त ने अपरोक्षज्ञान के सिद्धान्त को भी स्व विरोधी माना है। उनके लिए आत्मा उसी कारणवश अपरोक्षानुभूति का विषय भी नहीं हो सकती है जिस कारणवश कि वह परोक्ष प्रत्यक्ष का विषय होने मे असमर्थ है। आत्मा या चेतना या तो परोक्ष प्रत्यक्ष का विषय है, अथवा वह ज्ञान के किसी भी प्रकार का विषय नहीं हो सकती है।[२]

इस तरह, जयन्त प्रकाश तथा शब्द के साधर्म्यानुसार चेतना के स्व प्रकाशत्व से भी इन्कार करते हैं। प्रकाश या शब्द जिस भाँति अपने प्रकाशन के लिए अपने से भिन्न उपकरणों पर निर्भर होने के कारण स्व प्रकाशी नहीं है क्योंकि वह भी अपने प्रकाशन के लिए अपन से भिन्न परिस्थितियों पर निर्भर होता है। जयन्त चेतना को पर प्रकाशी सिद्ध करने प्रयास मे इस बात को बिल्कुल ही दृष्टि से बाहर कर देते हैं कि चेतना के पर प्रकाशत्व के सिद्धान्त की उपलक्षणायें क्या हैं? वह भूल जाते हैं कि यदि चेतना या ज्ञान पर-प्रकाशी है तो उस स्थिति में या तो यह मानना होगा कि अज्ञेय ज्ञान विषयों का ज्ञान करता है जो कि नितान्त अविवेकपूर्ण एवं स्वविरोधी है, या फिर एक ज्ञान को दूसरे ज्ञान से ज्ञेय मान कर अनवस्था दोष को स्वीकार करना होगा। यह दोनों ही विकल्प स्वीकार-योग्य नहीं हो सकते, किन्तु इनकी ओर दृष्टिपात किये बिना ही यथार्थवादी जयन्त चेतना के पर प्रकाशत्व को प्रस्थापित करने का प्रयास करते हैं। उनकी युक्तियाँ इस कारण भी सदोष हैं क्योंकि वह घट, दीपक तथा चेतना के प्रकाशों के मूलतः भेद को अपने विवाद में बिल्कुल ही भूल जाते हैं।

स्वत प्रकाशत्व की रामानुज द्वारा आलोचना

आचार्य रामानुज का चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में अर्धस्वप्रकाशवादी कहा जाता है, क्योंकि उनके अनुसार चेतना केवल कुछ परिस्थितियों के अन्तर्गत ही स्वयं को प्रकाशित करती तथा स्वयं व्यक्त करती है। सर्व परिस्थितियों तथा समयों के अन्तर्गत सब मनुष्यों को इसका प्रकाश नहीं होता है। यह चेतना इस अर्थ में स्वत प्रकाशी है कि वर्तमान क्षण में स्वयं अपने द्वारा स्वयं अपने आधार के समक्ष, यह स्वयं अपने को अभिव्यक्त करती है। हमें इस स्थिति का और विस्तार से निरीक्षण करना चाहिए। हम रामानुजभाष्य में पढ़ते हैं कि यह धारणा कि चेतना कोई विषय नहीं है, ज्ञाता विषयी के लिए उस समय ही उपयुक्त है जब कि वह अन्य विषयों को प्रकाशित करता होता है किन्तु सब चेतनाओं के स्वप्रकाशी से अन्यथा कभी न होने का कोई निरपेक्ष नियम नहीं है, क्योंकि सामान्य अनुभव और निरीक्षण यह बताता है कि एक व्यक्ति की चेतना अन्य किसी दूसरे व्यक्ति की चेतना या ज्ञान का विषय बन सकती है।[१] इस कारण रामानुज निष्कर्ष देते हैं कि चेतना कभी स्वप्रकाशी होती है और कभी नहीं होती है। स्वप्रकाशत्व और चेतना का अस्तित्व किसी अविच्छेद्य नियम से बँधे हुए नहीं हैं। परिस्थिति विशेष में यह स्वतः ही बन सकती है और बनती है, किन्तु सर्वदा ऐसा होना आवश्यकीय नहीं है।

आचार्य रामानुज की इस अर्धस्वप्रकाशवादी स्थिति को प्रतिपादित तथा धारण करना निश्चय ही कठिन है। यह कहना कि चेतना कुछ परिस्थितियों में स्वप्रकाशी नहीं होती है, वस्तुतः स्वप्रकाशत्व के दृष्टिबिन्दु को पूर्णतया ही छोड़ देना है, क्योंकि कोई वस्तु उस गुण या धर्म का ग्रहण नहीं कर सकती है जो कि स्वरूपतः उसका अपना नहीं होता है, और न उस धर्म स्वरूप को छोड़ ही सकती है जो कि उसका अपना होता है। यह युक्ति प्रस्तुत करना कि चेतना अपने आपको कुछ निश्चित परिस्थितियों और निश्चित समयों के अन्तर्गत प्रकाशित करती है, या तो चेतना तथा उसके स्वरूप के बीच के भिन्न का पूर्णतया भूल जाना है या फिर चेतना के स्वरूप के साथ अत्यन्त दोषी तथा अनिर्धारित रूप में मिलना है। किसी व्यक्ति की यह चेतना जो कि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा जानी जा रही है तथा उसके मनस् में एक विषय की स्थिति में उपस्थित है उस व्यक्ति की चेतना से नितान्त भिन्न है जो कि उसका ज्ञाता तथा विषयी है। इन दोनों की स्थितियों

के भ्रान्त तादात्म्य के आधार पर कोई युक्ति प्रस्तुत नहीं की जा सकती। चेतना के विषयों की भाँति चेतना के एक विषय तथा दूसरे विषय में कोई भेद नहीं होता, उस समय भी नहीं जब कि चेतना के दो विषयों में से एक विषय किसी व्यक्ति की पूर्व चेतना होती है। चेतना, चेतना की तरह, अपने स्वरूप में समवेत रूप से एक समान है। चेतना की एक अवस्था तथा दूसरी अवस्था के मध्य किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। चेतना की अवस्था की भाँति उसकी प्रत्येक अवस्था एक समान होती है किन्तु चेतना की एक अवस्था तथा चेतना स्वयं के बीच भेद अवश्य होता है। रामानुज की युक्ति का दोष इस भेद को न देख पाने में ही सन्निहित है। इस अन्तर को वह उस समय देखना भूल जाते हैं जब कहते हैं कि चेतना स्व प्रकाशी नहीं है क्योंकि वह तदनन्तर एक विषय की भाँति भी जानी जाती है। चेतना स्वयं अपने ही रूप भेदों से तादात्म्यक नहीं है, जैसा कि रामानुज भ्रान्तिवश समझ लेते हैं। चेतना का उसके रूप भेदों से तादात्म्य नहीं है क्योंकि ये रूप भेद स्वप्रकाशी नहीं हैं। किन्तु चेतना तथा उसके रूप भेदों को एक समझ लेने की भूल प्राय की जाती है, क्योंकि दोनों एक दूसरे से अविभाज्य हैं, तथा वास्तविक अनुभव में एक को दूसरे से पृथक् कभी नहीं पाया। इस अपृथकता के कारण ही तादात्म्य की सहज भ्रांति हो जाती है। रामानुज का यह कथन समझ पाना नितान्त असम्भव है कि 'यह नहीं कहा जा सकता है, चेतना चेतना का विषय बन कर, जैसे कि वह विषय बन सकती है चेतन नहीं रह सकती क्योंकि इस कथन में विश्वास का अर्थ यह होगा कि किसी की चेतना की अतीतावस्थायें चेतना के विषय होने के कारण चेतन नहीं होती हैं।[१] यहाँ यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि रामानुज चेतना से उसकी विषयीभूत अवस्थाओं या रूप भेदों का अर्थ ग्रहण करते हैं और इसे इन रूप भेदों की चेतना के साथ समीकृत नहीं किया जा सकता। हम यहाँ चेतना के किसी विशिष्ट विषय से सम्बन्धित नहीं। हमारा सम्बन्ध और विचार का केन्द्र तो चेतना स्वयं ही है जो कि इन विषयों का विषयी है। यह कथन कि चेतना स्व प्रकाशी नहीं है। क्योंकि बाद में यह चेतना का विषय बन सकती है, उसी भाँति भ्रान्तिपूर्ण है, जिस तरह कि यह कहना कि सूर्य को प्रकाशयुक्त नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यह अतीत में प्रकाश युक्त था तथा वर्तमान में दीवाल की ओट में प्रकाशित है और प्रत्यक्ष द्वारा नहीं केवल अनुमान से ही ज्ञात है। चेतना की कोई अतीत अवस्था चेतना का विषय बन सकती है पर इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि चेतना स्वयं चेतना का विषय बनती है, क्योंकि चेतना अपनी अवस्थाओं से तादात्म्यक् नहीं है। हमारी अतीत

अवस्थायें इस अर्थ मे निश्चय ही चेतन नहीं हैं, कि वे स्वयं के प्रति सचेत नहीं होती हैं। इसके अतिरिक्त अतीत अवस्थायें या इस दृष्टि से कोई भी अवस्था कभी चेतन नहीं होती, यह सदैव ही चेतनात्मा या चेतना है जो कि चेतन होती है। इस कारण, इस सम्बन्ध में अतीत अवस्थाओं या चेतना के विषय-वस्तु का रामानुज द्वारा प्रयुक्त सन्दर्भ नितान्त अर्थहीन और अप्रासंगिक प्रतीत होता है।

रामानुज के अनुसार चेतना के स्व प्रकाशत्व का एकमात्र अर्थ यही हो सकता है कि वह वर्तमान क्षण में स्वयं अपने द्वारा स्वयं अपने ही आधार के समक्ष अपने आपको प्रकाशित या अभिव्यक्त करती है या पुनः यह कि वह स्वयं अपने द्वारा अपने ही विषय का सिद्ध करने में उपकरणात्मक है। कोई यहाँ यह प्रश्न पूछ सकता है कि 'वर्तमान क्षण में' का यहाँ क्या महत्व या अर्थ है? उससे क्या यह अर्थ अभिहित है कि चेतना उस समय चेतन होती है, जब कि वह चेतन नहीं होती है? किन्तु यह तो केवल पुनरुक्ति मात्र ही होगी जैसे कि यह कहना कि सूर्य उस समय प्रकाशित है जिस समय कि वह प्रकाशित है, और उस समय प्रकाशित नहीं है जिस समय कि वह प्रकाशित नहीं है। या क्या उसका अर्थ यह है कि चेतना अपने मौलिक तथा अन्तरस्थ स्वरूप में स्वयं अपने आधार के समक्ष अपने आपको प्रकाशित करने में समर्थ नहीं है? और तब यह प्रश्न सहज ही प्रस्तुत किया जा सकता है कि ऐसा कौन-सा विषय है जो कि किसी न किसी रूप में स्वयं अपने अस्तित्व द्वारा स्वयं अपने ही विषय को सिद्ध करने में उपकरणात्मक नहीं है? क्या इसका अर्थ यह ग्रहण किया जाए कि चेतना के अतिरिक्त अन्य विषय भी तादात्म्यक अर्थों में स्व प्रकाशी हैं।

रामानुज के लिए जगत में चेतना तथा किसी भी अन्य पदार्थ के बीच कोई विभिन्नता नहीं है। चेतना भी पदार्थों के इस जगत मे एक पदार्थ मात्र है। वह अन्य पदार्थों से किसी आधारभूत अर्थ में भिन्न नहीं है बल्कि उसी प्रकार से भिन्न है जैसे कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ से भिन्न होता है। चेतना के स्वरूप के सम्बन्ध में रामानुज की यह स्थिति अत्यन्त असन्तोषजनक है। स्व प्रकाशत्व को कुछ समय के लिए स्वीकार भी करना तथा नित्य रूप से उसे अस्वीकृत भी करना कदापि युक्तियुक्त नहीं है। इस सम्बन्ध में रामानुज की स्थिति अत्यन्त आक्षेपित मतावलम्बियों की स्थिति से भी कहीं अधिक असंगत और अयुक्तिपूर्ण है। क्योंकि, चेतना यदि केवल वर्तमान क्षण में ही

१ श्रेष, पूज्य रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ २४

प्रकाशित होती है तथा किसी भी अन्य विषय की भाँति स्वयं का एक विषय हो सकती है, तब उसे वस्तुतः किसी भी अचेतन विषय से भिन्न नहीं कहा जा सकता है। हम जब यह स्मरण करते हैं कि रामानुज न तो अपरोक्ष ज्ञान (अपरोक्षानुभूति) की सम्भावना में और न आत्मा के मौलिक चित् स्वरूप में ही विश्वास करते हैं, तब यह देख पाना निश्चय ही अत्यन्त कठिन हो जाता है कि वह अपने सिद्धान्तानुसार, ज्ञान के ज्ञानों के अनवस्था दोष से, या आत्मा को जड़ स्तर पर लाये बिना कैसे बच सकते हैं, जिनमें से कि कोई भी स्थिति उन्हें स्वीकार्य नहीं हो सकती है।

स्व प्रकाशत्व तथा चेतना की निरपेक्ष अपरोक्षता

चेतना के स्वरूप की स्वतः प्रकाशत्व की धारणा उसके अपरोक्षत्व से निकटता से सम्बन्धित है। अपरोक्षत्व अनुभवमूलक या तार्किक विचार का लक्षण नहीं है। चेतना के स्वतः प्रकाशत्व को अस्वीकार करने वाला सिद्धान्त, अनिवार्य रूप से निषेध की ओर भी ले ही जाता है। इस कारण चेतना के स्वतः प्रकाशत्व तथा अपरोक्षत्व की धारणाओं को अन्योन्याश्रित कहा जा सकता है और उनका एक साथ चलना आवश्यक है। हम साधारणतः अस्तित्व तथा ज्ञान, या किसी विषय और उस विषय के ज्ञान में विभेद करते हैं। किन्तु अनुभवातीत या अपरोक्ष चेतना विषयी और विषय, तथा ज्ञान और अस्तित्व के इस विभेद की समानरूपेण ही आधार भूमि है। अपरोक्ष रूप से अनुभूत चेतना के अन्तर्गत सब भेद समाहित हैं। उसमें ही ज्ञान और अस्तित्व या विषयी और विषय के भेद भी विलीन होते हैं। चेतना के इस अपूर्व तथा अद्वितीय स्वरूप को ही, जिसमें कि जानना ही होना, तथा अस्तित्व में होना ही ज्ञात होना है, और जिसमें ज्ञाता तथा ज्ञात, या ग्राहक तथा ग्राह्य के मध्य कोई भी मध्यवर्ती कड़ी नहीं है, उसका निरपेक्ष अपरोक्षत्व कहा जा सकता है। यहाँ चेतना को एक ही साथ साथ स्व प्रकाश तथा अपरोक्ष विशेषित करके वर्णित किया जाता है। प्रकाश के इस आत्यन्तिक सिद्धान्त को अपनी स्व अभिव्यक्ति के लिए किसी अन्य प्रकाश की अपेक्षा तो होती ही नहीं है साथ ही स्व ज्ञेयत्व का उसका अनुभव पूर्णरूपेण अपरोक्ष भी होता है जिसमें अन्तर्गत कि विषयी और विषय, तथा ज्ञाता और ज्ञेय का कोई विभेद नहीं होता है। प्रकाशन उसका स्वरूप धर्म है। वह उसमें बाहर से नहीं आता। प्रकाशत्व फिर उसका स्वरूप तादात्म्यक है। इस स्व प्रकाशी परम सिद्धान्त का अनुभव इन्द्रियानुभूति से नहीं किया जा सकता है। यह नहीं कि उसकी अनुभूति ही

नहीं होती है, बल्कि यह कि उसकी अनुभूति अपरोक्ष होती है। इन्द्रियाँ नहीं अपरोक्षानुभूति उनके ज्ञान का मार्ग हैं। 'अनिन्द्रियगोचरत्वे सत्यपरोक्षत्वात्।

अपरोक्ष रूप से अनुभूत आत्मा, जिसमें कि विषयी और विषय तथा ज्ञान और अस्तित्व के सब भेद विसर्जित हो जाते हैं, स्वाधार पर अस्तित्ववान एक यथार्थ सत्ता है। वह स्वतंत्र है और अपने अस्तित्व के लिए किसी की अपेक्षा नहीं रखती। किसी अन्य विषय की अनुपस्थिति में भी वह स्व प्रकाशित रूप से उसी तरह अस्तित्व में ... रहती है, जिस तरह कि सूर्य उससे प्रकाशित होनेवाले विषयों की अनुपस्थिति में भी प्रकाशवान बना रहता है। इस तरह स्व प्रकाशत्व अपरोक्षत्व भी है, क्योंकि जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए किसी अन्य वस्तु पर निर्भर नहीं है, वह बिना किसी की मध्यस्थता के अस्तित्व में भी बना रहता है क्योंकि यथार्थ में केवल स्व दीप्तिमय आत्मा के अतिरिक्त और किसी का कोई अस्तित्व ही नहीं है। इस तरह यह कहना कि आत्मा स्व प्रकाश है, इस कथन के ही समतुल्य है कि वह अपरोक्ष है।

यह सत्य है कि चेतना साधारणत ज्ञाता तथा ज्ञेय के मध्य सम्बन्ध सूचित करनेवाला एक पद प्रतीत होती है, किन्तु थोड़ा सा ही विमर्श यह स्पष्ट कर देता है कि सम्बन्धों की चेतना भी वस्तुत सम्बन्धहीन चेतना है, जो कि विद्युत की चमक की भाँति एक साथ ही एक अविभाज्य एकता के रूप में प्रादुर्भूत होती है। यह भी ठीक सत्य है कि एक ही पदार्थ विषयी और विषय दोनों नहीं हो सकता है। किन्तु जिस तथ्य पर यहाँ बल दिया जा रहा है वह यह है कि पारमार्थिक रूप से चेतना को न विषयी होना आवश्यक है और न विषय, और फिर भी वह स्वयं एक, समग्र, तथा अविभेदनीय प्रकाश है।

स्व प्रकाशत्व तथा रहस्यवाद

प्रत्ययवाद द्वारा चेतना के स्व प्रकाशत्व के सिद्धान्त को इसके अपूर्व एवं अद्वितीय स्वरूप को सिद्ध करने के हेतु मान्यता प्रदान की गई है जो कि किसी भी जड विषय के स्वरूप से समग्ररूपेण भिन्न है। चेतना का स्वरूप विश्व के किसी भी अन्य पदार्थ के समान नहीं है। वह मूलत स्वदीप्तिमय है, और केवल अपने ही समान है। चेतना का यह स्वयं ज्योति स्वरूप यथार्थवादी को स्वीकार नहीं होता है। वह उसे प्रत्ययवादी द्वारा प्रदत्त अद्वितीय श्रेष्ठत्व के भवन से उतारकर विश्व के अन्य पदार्थों के साथ समानता के तल पर प्रतिष्ठित करना चाहता है। इस कारण यथार्थवादी की दृष्टि में चेतना अद्वितीय नहीं है। वह भी पदार्थों के इस जगत् में एक पदार्थ मात्र है।

चेतना के स्वत प्रकाशत्व की धारणा में रहस्यवाद अवश्य ही प्रत्ययवाद के समथन म है। उन दोना की दृष्टि म चेतना का स्वरूप स्वयं-ज्योति है। उसके पूर्ण अपरोक्षत्व के सम्बन्ध में भी दोनों सहमत हैं। रहस्यवाद ने भी स्वानुभव के अपरोक्षानुभूतिमय स्वरूप तथा ज्ञान के स्वत प्रकाशत्व पर सदैव ही जोर दिया है। किन्तु इस बिन्दु पर प्रत्ययवाद तथा रहस्यवाद दोनों के यथार्थवादी दृष्टिकोण के समान रूप से विरोध में होने के कारण ही यह अनुमित नहीं होता है कि प्रत्ययवाद और रहस्यवाद अनिवार्यत एक और समान हैं। उन दोना में इस तरह की कोई एकता नहीं है। चेतना के स्व प्रकाशत्व तथा अपरोक्षत्व के सम्बन्ध के पूर्वगामी विचार ज्ञान क्रिया म उपलक्षित ज्ञान, और चेतना के स्वभाव की परीक्षा पर आधारित है, और उनकी समानता के कारण यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि उनमे रहस्यवाद से प्रत्ययवाद की अन्य बिन्दुओं पर ही किसी प्रकार की अनिवाय सहमति समाहित है। किन्तु रहस्यवाद से यदि तार्किक विचारणा की अत्यतिकता म अविश्वास का अथ ग्रहण किया जाय तब अपरोक्ष ज्ञान का प्रत्ययवादी सिद्धान्त निश्चय परम यथार्थ की अपरोक्षानुभूति के रहस्यवादी रुख के अत्यन्त निकट [आ जाता है। रहस्यवादी रुख तार्किक विचार के प्रति अत्यन्त अविश्वास से भरा हुआ है, क्योंकि यह विषयी और विषय तथा ज्ञान और अस्तित्व के विभेद द्वारा ही यथाथ को जानने का प्रयत्न करता है, जब कि भेदहीन सत्य को भेद की विधि के द्वारा कभी भी नहीं जाना जा सकता है। प्रत्ययवाद और रहस्यवाद, या परम चेतना या परम यथाथ की अपरोक्षानुभूति के इस उभय बिन्दु पर ही मिलत होता है और दोनों ही अस्तित्व तथा ज्ञान की एकता या तादात्म्य को स्वीकृति प्रदान करते हैं, किन्तु जबकि रहस्यवाद अस्तित्व की प्रतिष्ठा से इस तादात्म्य को प्राप्त करता है, प्रत्ययवाद ज्ञान की प्रस्थापना से इसी लक्ष्य को पाता है। अस्तित्व और ज्ञान का दोनो की ही दृष्टि में अभेद है किन्तु एक जबकि अस्तित्व पर बल देता है तब दूसरा ज्ञान पर बल देता है।

इस कारण यह समझ लेना आवश्यक है कि स्वत प्रकाशत्व का दृष्टिकोण आवश्यक रूप से रहस्यवादी नहीं है। इसका यहाँ समस्त ज्ञान स्थितियो की एक आधारभूत ज्ञानमीमांसात्मक पूर्वमान्यता के रूप म ही प्रतिपादन किया गया है।

चेतना का स्वयंभू स्वरूप

ज्ञानात्मक सम्बन्ध मौलिक रूप से अद्वितीय तथा स्वयम्भू है। उसे स्व रूप सम्बन्ध कहा गया है। इस अपूर्व सम्बन्ध की परिभाषा इस प्रकार की गई है, वह सम्बन्ध जिसका अस्तित्व उस स्थिति में मान्य होना चाहिए जहाँ सुनि-

स्थित भान या निर्गुण विशिष्ट ज्ञान समवाय या संयोग के अन्य सम्बन्धों के न तो स्वयं अपने आपमें पौद्गलिक विषय है, और न मात्र मानसिक अवस्थिति है।[२] यह ज्ञात विषय का सत्व या स्वरूप या धर्म है। वह अन्य सम्बन्धों से नितान्त भिन्न है और केवल स्व समान ही है। उसका स्वरूप काल प्रसर तथा कार्य कारणत्व के सम्बन्धों के अनुरूप नहीं है। वह किसी भी ज्ञान, अन्तर विषयगत या अन्तर विषयगत सम्बन्ध से भी पूर्णरूपेण भिन्न तथा पृथक् है। ज्ञान का सम्बन्ध एक मौलिक और आधारभूत सम्बन्ध है और इस कारण स्वयं उसके अतिरिक्त और किसी अन्य सम्बन्ध से उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

आचार्य उदयन ने प्रतिपादित किया है कि ज्ञान और उसके विषय के मध्य स्वरूप-सम्बन्ध का सम्बन्ध होता है जिसके कारण कि प्रथम विषयी और उत्तरोत्तर विषय होता है। ज्ञान और उसके विषय के मध्य आचार्य कुमारिल द्वारा प्रस्तावित ज्ञातता के रूप में किसी मध्यवर्ती यथार्थ का कोई अस्तित्व नहीं होता। ज्ञान और उसके विषय के मध्य का स्वभाविक सम्बन्ध, जिसके कारण कि प्रथम उत्तरोत्तर का प्रत्यक्ष करता है, विषयता कहलाता है, जो कि ज्ञान और उसके विषय के बीच स्व रूप सम्बन्ध का निर्माण करता है।[३] हरिदास भी घोषित करते हैं कि स्वरूप सम्बन्ध का एक विशेष सम्बन्ध ज्ञान और उसके विषय के सम्बन्ध का निर्धारित करता है।

निष्कर्ष

चेतना के स्वतः प्रकाशत्व का प्रश्न प्रमुखतया दो कारणों से महत्वपूर्ण है। प्रथम कारण यह है कि चेतना के स्वतः प्रकाशत्व के सिद्धान्त का विकल्प ज्ञान के ज्ञानों की अनन्त शृंखला है, जिस स्थिति में कि अवस्था दोष के अनिष्ट से बच पाना सम्भव नहीं होता है। इस से बच पाने के हेतु चेतना को केवल पर प्रकाशी ही नहीं बल्कि स्वरूपतः स्व प्रकाशी मानना आवश्यकीय हो जाता है। उसे अपनी स्व अभिव्यक्ति में किसी भी अन्य उपकरण, कर्तृत्व, या क्रिया की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। चेतना को स्व प्रकाशत्व के स्तर से मात्र पर प्रकाशत्व के स्तर पर उतारना, वस्तुतः ज्ञान या किसी विषय के, प्रत्यक्ष को ही असम्भव बताना है। स्व-दीप्तिमय या स्वयं-ज्योति प्रकाश की, तरह यह चेतना के स्वरूप की अद्वितीयता ही है जो कि उसे जगत् में किसी भी अन्य वस्तु से पृथक् निर्दिष्ट करती है तथा वस्तुओं के प्रकाशन में उसे

---

१ न्याय कोश मीमांसाय।

२ इण्डियन फिला० राधाकृष्णन् जिल्द २, पृष्ठ १२४।

३ न्याय कुसुमांजलि हरिदास टीका ४ २ ३ ४।

सर्वोत्तम स्थान पर प्रतिष्ठित करती है। उसकी इस प्रकार की अपूर्वता का निर्देश, वस्तुत परोक्षरूप से स्वय उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करने के बराबर है।

चेतना के स्वत प्रकाशत्व की समस्या की महत्ता का द्वितीय कारण यह है कि चेतना अत्यन्त आधारभूत यथार्थ है। यह वह है जिसके समक्ष कि सबको प्रत्यक्ष होना पड़ता है। इस अर्थ में वह परम यथार्थ है। वह स्वय अपने या किसी अन्य के समक्ष उसी भाँति प्रदर्शित नहीं की जा सकती। जसे कि शेष सब उसके समक्ष प्रदर्शित होता है। उसे ज्ञाता तथा ज्ञात, विषयी और विषय के व्यावहारिक भेदों में विभक्त नहीं किया जा सकता। उसके अस्तित्व के लिए स्वय उसके अतिरिक्त और किसी की अपेक्षा नहीं है। वह स्वय सिद्ध है। वह समस्त अभिव्यजना का स्रोत तथा सार है। उसका स्वरूप चिरन्तन साक्षी जसा है तथा यह अपने ही प्रकाश में शाश्वतरूप से देदीप्यमान रहती है। इस अद्वितीय यथार्थ, परम चेतना का ग्रहण केवल अपरोक्षानुभूति म भी सम्भव होता है। वह अद्वय है और अपरोक्ष ज्ञान के प्रकाश मे उसका स्वबोध होता है।

प्रत्ययवादी दर्शन के लिए चेतना की स्वत प्रकाशत्व की धारणा इस कारण आधारभूत है क्योंकि चेतना को यदि स्वरूपत स्वयज्योति स्वीकार नहीं किया जाता। तो उससे अनिवार्यत यथार्थ की एक ऐसी तत्वमीमांसा अनुसरित होती है जिसमें कि चेतना के सिद्धान्त को सत्तामीमासात्मक रूप से स्वतन्त्र तथा स्वनिर्भर और ज्ञानमीमांसात्मक रूप से अपूर्व और विशेषाधिकारी स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती है। प्रत्ययवादी दर्शन के लिए चेतना का अपरोक्षत्व भी आवश्यक है और उसकी सिद्धि भी चेतना के स्वत प्रकाशत्व के सिद्धान्त से स्वभावत हो जाती है। चेतना के स्वत प्रकाशत्व का अर्थ ही चेतना का अपरोक्षत्व है। इस तरह स्वत प्रकाशत्व से ज्ञान या चेतना की अपरोक्षानुभूति का सिद्धान्त भी अनुगमित हो जाता है। प्रत्ययवाद के लिए अपरोक्षत्व का अर्थ है, विषयी और विषय क उस विभेद का खो जाना जिसके कारण परम यथार्थ हमारी दृष्टि से ओझल बना रहता है। इस अपरोक्ष अनुभूति या ज्ञान म स्वसत्ताधिकारी, एकात्मक, तथा भेदातीत चेतना का प्रकाशन होता है जो कि स्वयज्योति तथा समग्र अनुभव और ज्ञान में प्रकाशत्व का अपूर्व एवं अद्वितीय आधारभूत सिद्धान्त है।

● ●

पंचमाध्याय

चेतना का मनोवैज्ञानिक स्वरूप

समस्या की स्वविरोधी स्थिति

इस अध्याय का उद्देश्य स्वचेतना की समस्या की परीक्षा करना है। यह परीक्षा यह जानने के लिए आवश्यक है कि स्वचेतना के बहुसंख्यक सिद्धांत किस प्रकार एक एकात्मक तथा अविभेदी चेतना की निष्पत्ति की ओर ले जाते हैं। चेतना की समस्या में कुछ स्वविरोधी तथ्य अन्तर्भावित हैं, जिनके कारण कि समस्या ने इतना जटिल, विवादग्रस्त और असमाधानीय प्रतीत होनेवाला रूप ग्रहण कर लिया है। इस अध्याय में प्रयासित विवेचन में यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि चेतना की समस्या में कम से कम दो कठिनाइयाँ आवश्यक रूप से सन्निहित हैं। यह कठिनाइयाँ निम्न हैं। (१) चेतना के ज्ञान के ज्ञाता की अनन्त शृंखला के कारण पैदा हुई अनवस्था दोष की कठिनाइयाँ, तथा (२) विषयी-चेतना की विषय में परिवर्तित हो जाने की कठिनाई। यह कहा गया है कि प्रत्ययवाद या यथार्थवाद, किसी की भी परिकल्पना के आधार पर इन कठिनाइयों को पराजित नहीं किया जा सकता। इस कथन में यह ध्वनि स्पष्ट है कि स्वचेतना की समस्या एक छद्म समस्या है तथा विषयी को विषय की भाँति जानने का प्रयास सर्वथा अनुचित है। आत्मा वस्तुतः स्वचेतन तथा स्वप्रकाशित है। किन्तु फिर भी वह स्वयं अपने में ज्ञाता और ज्ञात के किसी विभाजन के लिए उत्तरदायी नहीं होती है। यथार्थ आत्मा ज्ञान के किसी विषय की भाँति कभी ज्ञात नहीं बनती है और वह मनोवैज्ञानिक आत्मा जो कि ज्ञात बनती है, यथार्थ आत्मा नहीं होती है। यथार्थ आत्मा का स्वरूप केवल विषयी का है और इसलिए ज्ञान के विषय में वह कभी भी परिवर्तित नहीं हो सकती है। इसमें एक तथ्य और भी हमें प्राप्त होता है कि वह जो ज्ञात बनता है, उसे किसी भी स्थिति में यथार्थ आत्मा नहीं माना जा सकता है। इस तरह स्वचेतना की समस्या की न्यायमुक्त और निष्पक्ष परीक्षा के हेतु, हम उन सभ्रमों से अपने आपको सचेत रखना अत्यन्त आवश्यक है जो कि स्वचेतना के पद के आसपास एकत्रित हो गये हैं।

स्वचेतना का पद प्राय अनिश्चित रूप से एकाधिक अर्थों मे प्रयुक्त किया जाता है, और इसीलिये इसके अर्थ की अनिश्चितता के कारण बहुत सी अनावश्यक उलझन पैदा हो गई हैं। इसका प्रयोग अन्तर्निरीक्षण में उप सर्ग एवं विषय की भाँति आत्मा की चेतना के लिए किया जा सकता है, जिसका अर्थ है कि यह अनुभवमूलक अहं, जीव, या ज्ञाता के लिए प्रयुक्त हो सकता है जो कि अन्तर्निरीक्षण की क्रिया में विकल्परूप से अनुभव का विषयी तथा विषय दोनों ही होता है। इसी तरह यह अनुभवातीत तथा विशुद्ध आत्म विषय दोनों ही होता है। इसी तरह यह अनुभवातीत तथा विशुद्ध आत्मचेतना का प्रतीक भी हो सकता है, जो कि यद्यपि ज्ञान की किसी क्रिया में विषय की तरह ज्ञात नहीं होती है तथापि उसके अस्तित्व का परम विषयी और समग्र ज्ञान म अन्तर्भावित पूर्वकल्पना की भाँति बोधानुभव अवश्य होता है। इसी तरह चेतना भी परम तत्व-मीमांसात्मक चेतना का प्रतीक हो सकती है, जो कि अपरिवर्तनीय और चिरन्तन है या कि मनोवैज्ञानिक और परिवर्तनशील चेतना का प्रतीक भी हो सकती है जिसका कि निरन्तर उद्भव तथा अनुद्भव होता रहता है। परम चेतना या ज्ञान विषय में परिणत नहीं किया जा सकता, तथा मनोवैज्ञानिक चेतना स्वयं चेतना नहीं है। यह चेतना की विषय वस्तु मात्र है। चेतना के इन विभिन्न प्रयोगों के कारण यह ध्यान म रखना अत्यन्त आवश्यक है कि चर्चा के प्रसंग में हम पद के एक अर्थ से दूसरे अर्थ पर तो नहीं चल जाते, जैसा कि कुछ दार्शनिकों के साथ वस्तुतः घटित हो चुका है।

औपनिषदिक दृष्टिकोण

समग्र ज्ञान के लिए आधारभूत तथा परम पूर्वकल्पना की तरह आत्मा का औपनिषदिक सिद्धान्त निश्चय ही सुप्रसिद्ध है। उपनिषदों के अनुसार आत्मा निरपेक्ष ज्ञाता है, जो कि किसी विषय की भाँति ज्ञेय नहीं बन सकता है। इस कारण उसे निर्गुण[1] माना गया है। मनस द्वारा उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता।[2] वह अमर दास और कार्य-कारण की शृंखला के अतीत है जिनकी कि केवल व्यावहारिक जगत के लिए सत्ता है। वह स्वयं सर्वज्ञ[illegible] माना है। वह परम विषयी है और इसलिए विषय की भाँति ज्ञेय नहीं है। बृहदारण्यक में कहा गया है कि स्वयं

---

१ श्वेताश्वतरोपनिषद् ३ १५।

२ केन १ ५ तथा २ १२ तैत्तिरीय २ ४ १।

ज्ञाता को किस भाँति ज्ञात किया जा सकता है ?[१] वह बुद्धि के द्वारा ज्ञात नहीं बन सकता, क्योंकि बुद्धि स्वयं उसके ही कारण गतिमय होती है।[२] वह विचारक है, किन्तु विचार नहीं है।[३] वह साक्षी है, द्रष्टा है और ज्ञाता है।[४] और अन्ततः, वह सर्वज्ञाता 'प्रमा' है। उसमें ही सारे सम्बन्ध निहित हैं।[५] वह विभेद आदि द्वैत के पार है। इस तरह, वह अपने स्वभाव से ही, ज्ञान का विषय बनने में असमर्थ है। तथापि, वह अज्ञात नहीं है, क्योंकि जैसा कि ऋषिवाक्य है कि 'वह आत्मा आध्यात्मयोग[६] के द्वारा 'प्रत्यगात्मा' की भाँति ज्ञेय है तथा पवित्र हृदय में उसकी अनुभूति की जा सकती है।[७] उसकी अनुभूति अति बौद्धिक अन्तर्साक्षी या 'प्रज्ञा' के द्वारा हो सकती है।[८] इस तरह परम आत्मा यद्यपि ज्ञान के समान अर्थ में प्रमेय की भाँति तो ज्ञेय नहीं है, किन्तु फिर भी उसे अज्ञेय नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उच्चतर प्रज्ञा के द्वारा उसकी अनुभूति होती है और वह ज्ञेय बनती है।

आचार्य शंकर का अद्वैत दृष्टिकोण

शंकर के अद्वैतवाद के अनुसार पूर्ण तथा सर्वव्यापक चेतना की ही एकमात्र सत्ता है, जो कि बाह्य या आन्तरिक किसी द्वैत या विभेद से हीन एकान्तरूप स्थित है। ज्ञाता तथा ज्ञेय के सम्पूर्ण विभेद केवल व्यावहारिक यथार्थ में जगत से ही सम्बन्धित है। निश्चेतन चेतना की अनुभूति व्यावहारिक भेद की इन संज्ञियों में अन्तर्गत नहीं होती। इस अनुभूति को ब्रह्मानुभव कहा जा सकता है। शंकर की दृष्टि में ब्रह्म की चेतना के समान स्वचेतना जैसी कोई वस्तु नहीं है। आत्मा उसी तरह अपने को जान नहीं सकती, जिस तरह कि अग्नि स्वयं को जला नहीं सकती। वह ज्ञान का विषय नहीं बन सकती।[९] वह मानसिक या बौद्धिक प्रत्यक्ष का भी विषय

---

१ बृहदारण्यक २ ४ १४।
२ बृहदारण्यक ३ ४ २।
३ बृहदारण्यक ३ ८ ११।
४ प्रश्न, ६ ५।
५ छान्दोग्य ७ २४ १।
६ कथा, २ १२।
७ मुन्डक ३ १, ८।
८ कथा, शांकर भाष्य २ २४।
९ बृहदारण्यक, २ ४ १४।

नहीं है।[१] वह प्रत्यक्ष का विषय इस कारण नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वय अपने को ही 'ज्ञाता' तथा 'ज्ञेय में विभाजित नहीं कर सकती है।[२] तथापि उच्चतर अनुभूति में उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है।[३]

पश्चात्कालीन अद्वैतवादियो का दृष्टिकोण

वाचस्पति मिश्र के अनुसार अन्तरस्थ आत्मा केवल उस समय ही ज्ञात बनती है जबकि वह 'जीव' की स्थिति म बद्ध होती है।[४] इस स्थिति म ही उसे ज्ञेय कहा जा सकता है। उन्होने कहा है कि 'जीव की भाँति ही वह ज्ञाता है कर्ता है और 'भोक्ता' है किन्तु चिदात्मा' की भाँति वह स्व चेतना का विषय नहीं है।[५]

गोविन्दानन्द न वाचस्पति मिश्र के दृष्टिकोण का समथन किया है। उनके अनुसार भी स्वचेतना म जो प्रत्यक्ष होता है वह सक्रिय 'जीव है।[६] परम आत्मा स्वय उसम ज्ञेय नहीं बनती है। वह ज्ञेय अशय से प्रतीत है।

अप्पय दीक्षित का विश्वास है कि 'जीव मानसिक रूपावस्थाओ से निर्धारित होकर स्वचेतना के विषय की भाँति प्रत्यक्ष होता है और अहकार द्वारा उपाधित होकर ज्ञाता विषयी की तरह ज्ञान मे आता है। इस तरह स्वय आत्मा के प्रत्यक्षीकरण में किसी प्रकार का स्वविरोध मानने का कोई कारण नहीं है।[७]

पद्मपाद का दृष्टिकोण अप्पय दीक्षित के विपरीत है। उन्होंने विषय और विषयी क मध्य आधारभूत विभेद को बनाकर आत्मा द्वारा उसके स्वप्रत्यक्ष मे स्वविरोध के आक्षेप को उठाया है। उनके अनुसार विषय का स्वरूप 'इदम' का है जबकि आत्मा का स्वरूप अनिदम का है, और इसका कारण आत्मा स्वय अपने को कभी नही जान सकती है। स्वचेतना का विषय यथाथ आत्मा नहीं बल्कि केवल अहकार' ही होता है।[८]

---

१ बृहदारण्यक, ३ ८।
२ तैत्तिरीय २ १।
३ शाबर भाष्य ३ २ २४ २३।
४ भामती १ १ १।
५ भामती १ १ ४।
६ र प्रभा २ ३ ३२।
७ पद्मपादिका।
८ विवरणप्रमेयसग्रह।

नहीं धन सकती । यह अपने आपको 'राजस' तथा 'तामस' से अमिश्रित शुद्ध 'सत्व' म अपने ही प्रतिबिम्ब के द्वारा असाधारण प्रज्ञा, (प्रतिभा ज्ञान) से जान सकती है । इस तरह, विशुद्धात्मा जहाँ अनुभवमूलक आत्मा को जान सकती है, वहीं अनुभवमूलक आत्मा विशुद्ध का नही जान सकती है ।

आत्मा के ज्ञान के लिए सांख्ययोग धारणा के इस विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा मे विषयी और विषय दोनो होने में प्रत्यक्ष स्वविरोध है । यह भी प्रगट ही है कि एक द्वैतवादी तत्वमीमांसा में प्रतिबिम्ब का सिद्धांत स्थिति को किसी भी रूप में अधिक विकसित स्तर पर नहीं लाता है क्योंकि या तो आत्मा की वस्तुत कोई स्वचेतना नहीं होती है जोकि स्वरूप से 'द्रष्टा' और केवली' है या फिर एक आभव प्रतिबिम्ब आत्मा की चेतना होती है । वाचस्पतिमिश्र इस विरोध से यह कहकर बचने का प्रयास करते हैं कि जबकि अनुभवातीत या परम आत्मा स्वप्रत्यक्ष का 'विषयी' है तब अनुभवमूलक आत्मा केवल स्वप्रत्यक्ष का विषय है ।[१] किन्तु यह तो वस्तुत यही प्रतिपादित करना है कि आत्मा, सब ज्ञानानुभव म सन्निहित एक विषय की भांति केवल अनुभवातीत रूप से ही ज्ञात होता है, और एक विषय की भाँति उसका प्रत्यक्ष कभी सम्भव नही है । सांख्य योग के अनुसार वस्तुत स्वचेतना असम्भव होनी चाहिये, क्योंकि आत्मा या तो अनुभव की एक अवस्था विशेष में, जिससे कि वह अपने मौलिक तथा विशुद्ध रूप म नहीं जाना जा सकता है, आभवरूप से बुद्धि के रूपान्तरों से उसका तादात्म्य कर लेता है, या फिर बुद्धि' के रूपांतरो से उसका तादात्म्य नहीं होता और तब इस असादात्म्य की अवस्था में किसी भी ज्ञान या अनुभव की कोई सम्भावना शेष नहीं रह जाती है । इस तरह विषयगत और अनुभवमूलक चेतना के क्षेत्र मे स्वचेतना' का उद्भव 'द्रष्टा और 'दृश्य के स्वरूपो के मध्य भ्रांति के कारण होता है ।[२] वह जो 'देखा जाता है, वह द्रष्टा का स्वरूप नहीं होता है और वह जो द्रष्टा' का स्वरुप होता है उसे 'देखा' नही जाता है । हमे पूछना चाहिये कि स्वप्रत्यक्ष में क्या यह 'बुद्धि' है जो आत्मा को जानती है, या आत्मा है, जो स्वय अपने को जानती है ? प्रथम विकल्प सम्भव नहीं है क्योंकि 'बुद्धि' अचेतन है, तथा द्वितीय स्वविरोधी है । विज्ञानभिक्षु का दृष्टिकोण जिसके अनुसार कि आत्मा को जाना जा सकता है, और साथ ही उसके ज्ञाता तथा ज्ञेय दोनों होने के स्वविरोध से भी बचा जा सकता है, व्यास तथा वाचस्पति के दृष्टिकोणों के

---

१ तत्व वैशारदी २ ३५ ।

२ योग सूत्र २ ६ ।

विपरीत पड़ता है जो कि विशुद्धात्मा को प्रत्यक्षीकरण का विषय नहीं, सदैव केवल विषयी ही मानते हैं।[१] व्यास और वाचस्पति का दृष्टिकोण ही परम्परागत साङ्ख्ययोग दृष्टि के अनुकूल प्रतीत होता है क्योंकि विज्ञान भिक्षु की धारणा साङ्ख्ययोग दर्शन के 'दृश्य' तथा 'द्रष्टा' के विभेद के प्रतिकूल पड़ती है।[२]

आचार्य प्रभाकर का दृष्टिकोण

प्रभाकर के अनुसार, 'संवित्' चूँकि त्रिपुटी-स्वभाव है, इसलिए ज्ञान की प्रत्येक क्रिया में आत्मा का ज्ञान भी आवश्यकरूप से होता है, क्योंकि स्व प्रकाशी ज्ञान केवल अपने को ही प्रकाशित नहीं करता बल्कि अपने आधार, आत्मा को भी उसी भाँति अभिव्यक्त करता है जिस तरह कि दीपशिखा अपने साथ अपनी वर्तिका को भी प्रकाशित करती है।[३] प्रभाकर की दृष्टि में आत्मा तथा अहंकार के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं है। वे दोनों तादात्म्यक हैं। इस कारण आत्मा की स्वचेतना में भी किसी प्रकार के विरोध के अवसर की कोई सम्भावना नहीं है। क्योंकि जब कभी भी आत्मा ज्ञान बनता है, तब वह एक विषय की तरह नहीं बल्कि किसी विषय के प्रकाशन की क्रिया में 'त्रिपुटी संवित्' द्वारा एक विषयी के रूप में अनिवार्यतः प्रकाशित होकर ज्ञान बनता है। आत्मा को ज्ञान के विषय की भाँति नहीं, बल्कि केवल विषयी की भाँति ही जाना जा सकता है।[४] प्रभाकर की यह स्थिति उस सीमा तक अपेक्षाकृत नवीन है, जहाँ तक वह न इस यथार्थवादी दृष्टिकोण को स्वीकार करती है कि आत्मा एक विषय की तरह ज्ञात बनती है न कि इस अद्वैत दृष्टिकोण को कि वह स्वप्रकाशित ज्ञानी है। वह प्रतिपादित करते कि ज्ञान की क्रिया में अनिवार्य रूप से सन्निहित विषयी की तरह तथा उसके द्वारा ही आवश्यक रूप से प्रकाशित होकर आत्मा ज्ञात बनती है, प्रभाकर मध्यम मार्ग को ग्रहण करते हैं। किन्तु अन्ततः यह स्थिति भी स्वज्ञान की कठिनाइयों को हल करने में असफल हो जाती है क्योंकि इस तरह ज्ञात आत्मा, तथा विषय की भाँति ज्ञात आत्मा में मुश्किल से ही कोई विभेद किया जा सकता है।

---

१ योगवार्तिका २ ३५।

२ विवरणप्रमेयसंग्रह पृष्ठ ५३।

३ विवरणप्रमेयसंग्रह पृष्ठ ५६।

४ बृहती पृष्ठ १५।

को आत्मा रहने के लिए बिना कभी किसी विषय में परिणित हुये ही सदव विषयी बना रहना अत्यन्त आवश्यक है। आत्मा का किसी विषय में परिवर्तित होना ही वह कठिनाई है जिसे कि हमने स्वचेतना की अनवस्था दोष की कठिनाई के बाद द्वितीय महत् कठिनाई कहा है।

भाट्ट दृष्टिकोण

आचार्य कुमारिल यह स्वीकार करते प्रतीत होते हैं कि आत्मा स्वप्रकाशी है।[1] किन्तु उनके अनुयायी, पार्थसारथिमिश्र इस दृष्टिकोण को स्वीकार नहीं करते। पार्थसारथिमिश्र के अनुसार आत्मा मानसिक प्रत्यक्ष का विषय है।[2] इस तरह आत्मा न न्याय द्वारा प्रतिपादित अनुमान का विषय है, न शंकर की धारणानुसार अपरोक्षानुभूति का और न वह प्रभाकर के मतानुकूल विषय ज्ञान का ही विषय है। वह इन सबसे भिन्न केवल मानसिक प्रत्यक्ष का विषय है। इस न्याय सिद्धान्त के विरोध में कि आत्मा अनुमान का विषय है, कुमारिल का कथन है कि आत्मा यदि अनुमान का विषय हो सकती है, तब वह उसी प्रकार से प्रत्यय का विषय भी हो सकती है। उनके अनुसार यदि उसके अनुमान का विषय होने में कोई कठिनाई है, तो प्रत्यक्ष का विषय होने में भी कोई कठिनाई नहीं हो सकती। कुमारिल के इस प्रतिवाद का उत्तर नैयायिक यह दे सकते हैं कि आत्मा चूंकि आकारहीन है, इस लिए उसका अनुमान का विषय होना तो सम्भव है किन्तु किसी भी तरह प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है, किन्तु कुमारिल इस प्रत्युत्तर पर मौन नहीं रहते हैं। उन्होंने इस प्रत्युत्तर के उत्तर में कहा है कि आनन्द की अनुभूति भी तो आत्मा की भांति ही आकारहीन है, जिसे कि न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष का विषय माना गया है और इस कारण, जो आकारहीन आनन्द के साथ सम्भव है, वह आत्मा के साथ सम्भव क्यों नहीं हो सकता है? इस कारण न्याय की युक्ति नितान्त व्यर्थ दीखती है और कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि आत्मा का प्रत्यक्ष सम्भव क्यों नहीं है। इस तरह कुमारिल यह प्रतिपादित करने का प्रयास करते हैं कि इस स्थिति से कोई बचाव सम्भव नहीं है कि आत्मा प्रत्यक्ष का एक विषय है।

आत्मा को प्रत्यक्ष का विषय मान लेने से यह स्पष्ट ही है कि भाट्ट दृष्टिकोण स्वविरोध से ग्रस्त हो जाता है, किन्तु पार्थसारथि यह कह कर स्व

---

१ श्लोकवार्तिक, आत्मवाद १४२।

२ शास्त्र दीपिका पृष्ठ ३४७।

चेतना की इस बाधा के परिहार का प्रयास करते हैं कि आत्मा दो भिन्न अर्थों में विषय और विषयी दोनों है। वह चेतना की भाँति विषय है, किन्तु द्रव्य की तरह विषयी है।[१]

शंकर के स्वप्रकाशत्व के सिद्धांत पर भी कुमारिल ने स्वप्नहीन निद्रा में चेतना के ह्रास के आधार पर आक्रमण किया है। आत्मा यदि स्वरूपतः स्वप्रकाशी होती तो वह स्वप्नहीन निद्रा में भी अपने प्रकाशत्व को नहीं खो सकती थी। स्वप्नहीन निद्रा में उसकी चेतना का ह्रास इस बात का प्रमाण है कि वह स्वप्रकाशी नहीं है, और क्योंकि वह स्वप्रकाशी नहीं है, इसलिए उसे आंतरिक प्रत्यक्ष का विषय मानना आवश्यक हो जाता है।[२]

इस तरह हम आत्मा की चेतना के सम्बन्ध में निम्न सम्भाव्य सिद्धांतों की गणना कर सकते हैं

(१) किसी भी अन्य साधारण विषय की भाँति आत्मा भी साधारण मानसिक प्रत्यक्ष के द्वारा प्रत्यक्ष होती है।

(२) आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं बल्कि अनुमान के द्वारा होता है। वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं अनुमान का विषय है।

(३) आत्मा का ज्ञान एक उच्चतर तथा असाधारण प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। वह साधारण प्रत्यक्ष का नहीं असाधारण प्रत्यक्ष का विषय है।

(४) आत्मा न एक विषय की भाँति ज्ञात होती है और न अनुमान के द्वारा ज्ञात होती है बल्कि उसके स्वप्रकाशत्व के कारण अपरोक्ष ज्ञान या अनुभूति में ज्ञात बनती है।

इन सारे सिद्धान्तों को यथार्थवाद और प्रत्ययवाद के दो स्थूल विभाजनों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है। यथार्थवादी दल का झुकाव आत्मा के किसी प्रकार के प्रत्यक्ष की ओर है। वह उसे एक सामान्य या असामान्य विषय में बदलकर या अनुमान के द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। प्रत्ययवादी दल मूलतः यह मानता है कि आत्मा ज्ञान के किसी भी प्रकार के विषय में परिवर्तित होने में स्वरूपतः असमर्थ है और इस कारण वह इस निष्कर्ष की ओर स्वभावतः झुकता है कि आत्मा का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान के विषय की भाँति कदापि नहीं होता है। स्वप्रकाशी होने के कारण वह अपरोक्ष ज्ञान या अनुभूति में प्रगट होती है और समस्त ज्ञानात्मक क्रियात्मकता की परम पूर्वकल्पना की भाँति उसका ज्ञान होता है।

---

१ शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ३४८ ५३।

२ शास्त्रदीपिका, पृष्ठ ३५२।

प्रत्ययवादी के लिए आत्मा चूँकि सम्पूर्ण ज्ञानानुभाव का परम आधार है, इसलिए उसका प्रत्यक्ष करना उसी तरह असम्भव है जिस तरह कि किसी का स्वयं के कन्धों पर चढ़ना असम्भव है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि यह अज्ञात या अप्रकाशित है क्योंकि आत्मा के स्वतः प्रकाशत्व के सिद्धान्त का एकमात्र विकल्प आत्मा का अचेतन होना ही हो सकता है, जो कि प्रथम दृष्टया नितान्त अविवेकपूर्ण है। स्व चेतना की यथार्थवादी गणना में हम अनिवार्य रूप से अनवस्था दोष की कठिनाइयों की ओर ले जाती है। आत्मा का प्रत्यक्ष यदि सम्भव है तो यह प्रत्यक्ष केवल एक विषय की भाँति ही हो सकता है और इस तरह के प्रत्यक्ष के लिए एक प्रत्यक्षकर्ता आत्मा आवश्यक है जिसे भी अपनी बारी में प्रत्यक्ष का विषय बनना पड़ेगा और इस तरह यह प्रक्रिया किसी भी स्थल पर न परम आत्मा का प्रत्यक्ष कर सकती है और न समाप्त ही हो सकती है। इस तरह यथार्थवादी की युक्ति हमें अनिवार्यतः अनवस्था दोष में उतार देती है। यथार्थवादी दृष्टिकोण की यह प्रथम कठिनाई है, किन्तु उसकी एक दूसरी भी कठिनाई है, जो कि प्रथम से कहीं अधिक आक्षेपनीय है। यथार्थवादी के अनुसार स्वप्रत्यक्ष की प्रक्रिया में आत्मा को, जो कि परम 'विषयी' की भाँति विषय के स्वभाव से बिल्कुल भिन्न है, विषयी की तरह नहीं जो कि उसका वास्तविक स्वरूप है बल्कि एक विषय की तरह प्रकट होना पड़ता है जिसका स्वरूप वस्तुतः उसके स्वरूप के नितान्त विपरीत है। इस भाँति स्वचेतना का आत्मा को ज्ञान क्रिया के परम विषयी की भाँति प्रगट करने का प्रयोजन ही व्यर्थ हो जाता है। इस तरह परम विषयी या तो अज्ञात ही रह जाता है या फिर उस स्वरूप में ज्ञात बनता है जो कि उसका स्वरूप ही नहीं है।

प्रत्ययवादी, इस कारण, यह प्रस्तावित करता है कि यदि स्वचेतना की यथार्थवादी गणना हमें अनिवार्य रूप से इन कठिनाइयों में ले जाती है तब इन कठिनाइयों से बाहर जाने वाले मार्ग को हम आत्मा के स्वप्रकाशत्व तथा अपरोक्षानुभूति के सिद्धान्त में खोजना चाहिए। इस स्थल पर यह ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि जब कि स्वचेतना के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण में, स्वप्रकाशी आत्मा की अद्वितीय स्थिति का एक अचेतन विषय के स्तर पर पतित हो जाने का खतरा निहित है तब प्रत्ययवादी दृष्टिकोण भी जोखिम से खाली नहीं है। आत्मा के आधार भूत तथा अनुभवातीत स्वरूप पर अत्यधिक बल देने वाले प्रत्ययवादी दल में, आत्मा के विलीन हो जाने

या सम्पूर्णतया अस्वीकृत किये जाने की जोखिम सन्निहित है। यह जोखिम काल्पनिक ही नहीं है क्योंकि माध्यमिक बौद्ध विचारधारा के साथ यह स्थिति वस्तुतः घटित हो चुकी है। एक अर्थ विशेष में यह कहा जा सकता है कि यथार्थवादी तथा प्रत्ययवादी दोनों आत्मा तथा चेतना की सत्ता से इन्कार करते हैं और इस तरह दोनों ही माध्यमिक स्थिति के अत्यन्त निकट हैं। यथार्थवादी आत्मा से उसे स्वरूपतः अचेतन बनाकर तथा स्वचेतना की प्रक्रिया में एक विषय की स्थिति उसके ऊपर लादकर, वस्तुतः इन्कार कर देता है। चेतना के स्व-सत्तात्मक यथार्थ को परिस्थितियों के साभोगिक संयोग की एक अस्थायी स्थिति मात्र प्रतिपादित करना उसके अस्वीकार के ही समान है। प्रत्ययवादी इसकी दूसरी ओर, आत्मा या चेतना से उसके अनुभवातीत, अपरिवर्तनशील तथा विभेदहीन स्वभाव के ऊपर जोर देकर तथा व्यावहारिक ज्ञान की असम्भवनीयता प्रदर्शित करके इन्कार करता है।[१] हम व्यावहारिक जगत में जिन ज्ञान साधनों से परिचित हैं, आत्मा के ज्ञान को उनके द्वारा नितान्त असम्भावना बताना भी वस्तुतः उसकी सत्ता को अस्वीकृत करने के ही तुल्य है।

यथार्थवादी स्थिति की कठिनाई का आधारभूत कारण यह तथ्य है कि वह आत्मा के स्वप्रकाश तथा स्वनिर्भर स्वरूप को अपना आधार नहीं बनाता है। प्रत्ययवादी की कठिनाई यह है कि वह स्वज्ञान के कठिन तथ्य को अनुभवमूलक आधार पर प्रस्थापित नहीं कर सकता है। इस कारण, इन कठिनाइयों को हल करने के हेतु अद्वैत दर्शन को चेतना के दो रूप मानने पड़े हैं।

चेतना के दो रूप

प्रत्ययवादी अनुभवातीत चेतना के अपने सिद्धान्त में अस्तित्व के दो वर्गों तथा यथार्थ के द्विप्रभेद, 'पारमार्थिक' तथा 'व्यावहारिक' की परिकल्पना के द्वारा सुधार करता है। वह दृष्टि जगतात्मक आत्मा तथा परिवर्तनशील चेतना की सत्ता को स्वीकार करता है किन्तु उसे एक निम्नतर या व्याव

१ यह उसे सम्पूर्णतः नहीं बल्कि केवल आंशिक रूप से ही अस्वीकार करता है और इसी कारण ही उसने मान लिया है कि आत्मा के यथार्थ स्वरूप के सम्बन्ध में आगम आधार पर प्रस्तुत कथनों को ही मान लेना चाहिए।

हारिक जगत मे बहिष्कृत कर देता है, और 'पारमार्थिक' जगत के लिए जो कुछ स्वीकार करता है उसे 'व्यावहारिक' जगत से बिल्कुल विभक्त कर लेता है। किन्तु यह कोई विशेष बात नहीं है। चेतना के समग्र सत्य सिद्धान्तों को, किसी न किसी अवस्था में चेतना के अनुभवातीत और अनुभवाश्रित दोनो पहलुओं के लिए स्थान बनाना ही पड़ता है। शंकर के अनुसार चेतना की समस्या को, समझने के कुंजी उसके 'पारमार्थिक' और 'व्यावहारिक' रूपों को समझने में निहित है। 'व्यावहारिक' जगत मे हमें स्व चेतना प्राप्त होती है जहाँ कि हम स्वात्मा का प्रत्यक्ष करते हैं, किन्तु यह वह आत्मा है जो कि वास्तविक आत्मा नहीं है। यह आत्मा केवल वही आत्मा है जो आन्तरिक उपकरणो द्वारा विशेषित तथा सीमित है। 'पारमार्थिक' जगत में हमें स्वचेतना नहीं होती है। इस स्तर पर आत्मा की सत्ता, अद्वितीय, विषयों से रहित विषयी की भाँति होती है। वह ज्ञाता की तरह 'ज्ञेय' के आश्रय, और आधार की तरह अस्तित्व म होती है, किन्तु 'ज्ञाता' या 'ज्ञेय' की भाँति कदापि नहीं। यह स्थिति ही मुक्तावस्था है। स्वतन्त्र व्यक्तिवाद की मिथ्या कल्पना, अहङ्कार में विश्वास, तथा पृथकत्व की धारणा से मुक्ति के मार्ग में मुक्त होना अत्यन्त आवश्यक है।[१]

अहं प्रत्ययहीन चेतना की रामानुजीय आलोचना की एक परीक्षा

रामानुज के अनुसार, स्व चेतना चेतना का एक अनिवार्य तथा अवि भाजनीय लक्षण है। आत्मा चेतन विषयी है, जो कि अपने स्वत्व 'अहंप्रत्यय' से कभी वियुक्त नहीं होता है।[२] प्रगाढ़ निद्रा मे भी यह अहं प्रत्यय उपस्थित रहता है यद्यपि जागृति से थोड़े कम और धुँधले परिमाण में।[३] स्व चेतना की नित्य उपस्थिति का यह सिद्धान्त शांकर दृष्टिकोण के नितान्त विपरीत पड़ता है। यह अहङ्कार की नित्य उपस्थिति के विपरीत तो नहीं है, जो कि चेतना पर एक भ्रामक आरोप के अतिरिक्त और कुछ नहीं, किन्तु एक अहं हीन तथा अविभेदी चेतना की परिस्थिति के शांकर सिद्धान्त के विपरीत अवश्य है जिसकी कि रामानुज निम्न आलोचना प्रस्तुत करते हैं।

---

१ भारतीय दर्शन के कुछ आधारभूत सिद्धान्त, वी० हेमन।

२ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ २६।

३ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३१।

अहं प्रत्ययहीन चेतना के विपरीत रामानुज की प्रथम आलोचना यह है कि अहंता आत्मा पर भ्रामक रूप से आरोपित कोई वस्तु नहीं है क्योंकि यदि ऐसा होता तो हमें इस भाँति चेतना की अनुभूति होती कि 'मैं चेतना हूँ' न कि इस भाँति की 'मैं चेतन हूं' जसा कि हम अपने दनिक जीवन म रोज अनुभव करते हैं।[१] 'इसके द्वारा यह स्पष्टरूप से सिद्ध हो जाता है कि आत्मा चेतना का विषयी है। एक ओर एकात्मक चेतना को 'अहं प्रत्यय' तथा 'चेतना' के दा भागों में एक को भ्रामक तथा द्वितीय को एकमात्र यथाथ मानकर विभाजित नही किया जा सकता। रामानुज की यह आलोचना सत्य और असगत दोनों ही है। 'व्यावहारिक' चेतना का यदि कोई अस्तित्व है तो वह विषयी और विषयी के द्वत को अचलरूप स अपने म लिए होती है और अवि भेदी चेतना के समर्थक चेतना के इस 'व्यावहारिक' पहलू से कभी इन्कार नही करते हैं। यह चेतना आवश्यकरूप से 'मैं चेतन हूं' के रूप में ही होती है। वह सम्भवत 'मैं चेतना हूं' के रूप म नही हो सकती, क्योंकि उसका वैसा हाना नितान्त अथहीन होगा। यह तो सबके द्वारा स्वीकृत है कि 'व्यावहारिक' ज्ञान का प्रकाशन, ज्ञाता, ज्ञात और ज्ञेय के विभाजनों मे ही होता है। किन्तु अद्वतवाद यह प्रमाणित करना चाहता है कि यह विभेद अन्तिम और चरम नहीं है।[२] इसकी दूसरी ओर यदि चेतना से द्वतहीन विशुद्ध चेतना का अथ है, तो वह सम्भवत 'मैं चेतना हूँ' के रूप में नही हो सकती है, क्योंकि 'मैं-पन उसके लिए उसी प्रकार अनावश्यक है जिस प्रकार कि यह-पन है। वह केवल एक ही रूप में हो सकती है और वह विषय विषयी हीन चेतना' का रूप है। द्रष्टात्मा का, जो कि 'साक्षी' है, 'केवल है तथा 'निगु ण' है, 'जीव' के साथ तादात्मय नहीं किया जा सकता जो कि वास्तविकरूप से अनुभवा के रूपान्तरो म स गुजर रहा है।[३] किन्तु रामानुज इस प्रकार की किसी आत्मा की आवश्यकता को अनुभव नहीं कर सकते। उनके लिए चेतना या आत्मा अहं प्रत्यय से हीन हो ही नहीं सकती है। वह पूछते हैं कि 'क्या तुम यह कहना चाहते हो कि ज्ञान स्वय के ही समक्ष प्रगट होता है? आत्मा मात्र ज्ञान ही नहीं, बल्कि उसका विषयी भी है'।

---

१ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३१।

२ शांकर भाष्य १ १ ४।

३ पचादनी

४ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३१।

और जबकि सामान्य नियम यह है कि जो कुछ भी स्वयं के समक्ष प्रगट होता है वह 'मैं' के रूप में ही प्रगट होता है, यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि चेतना भी 'मैं' के रूप में ही प्रकट हो सकती है क्योंकि वह भी स्वयं के समक्ष ही प्रगट होती है। इस कारण उनका निष्कर्ष है कि जो वस्तु आंतरिक आत्मा का गठन करती है वह शुद्ध चेतना नहीं, बल्कि 'मैं' है।[1]

शंकर के आत्मा और अहं प्रत्यय के विभेद पर, रामानुज की द्वितीय आलोचना इस मान्यता पर आक्रमण है कि अचेतन अंतःकरण ज्ञाता के स्वरूप को धारण कर सकता है। शंकर की मान्यता थी कि चूंकि अहंता या ज्ञाता का स्वरूप, कर्म और परिणामतः परिवर्तन को अपने में समाविष्ट किए हुए है, इसलिए यह अपरिवर्तनशील चेतना से संबंधित नहीं हो सकता। कर्म और परिवर्तन ससीम चेतना के गुण हैं और अतः कर्ता या 'ज्ञाता' के गुण चेतना के निम्नतर सिद्धांत, 'अहं' या 'जीव' से ही संबंधित हो सकते हैं।[2] किन्तु रामानुज के लिए यह बात स्पष्टरूप से असंगतिपूर्ण है कि अचेतन 'अहंकार' या अंतःकरण ज्ञाता बन सकती है।[3] ज्ञान का कर्तृत्व अचेतन अहंकार से संबंधित नहीं हो सकता है। और न शुद्ध आत्मा के प्रतिबिम्ब की भाँति कर्ता की अहंता का सिद्धांत ही प्रमाणित किया जा सकता है। हम पूछते हैं कि बुद्धि के प्रतिबिम्ब के घटित होने की कल्पना किस तरह की जाती है ? क्या चेतना अहंकार का प्रतिबिम्ब बनती है, या कि अहंकार ही चेतना का प्रतिबिम्ब बनता है ? प्रथम विकल्प स्वीकृति योग्य नहीं है क्योंकि ज्ञाता होने का गुण चेतना के लिए स्वीकार योग्य नहीं होगा और द्वितीय विकल्प भी उसी भाँति का है क्योंकि अचेतन वस्तु कभी भी ज्ञाता नहीं बन सकती है।[4]

रामानुज की आलोचना के विरोध में अद्वैतवाद का उत्तर यह है कि अचेतन अहंकार चेतना को उसी प्रकार से व्यक्त करता है जिस तरह कि हाथ सूर्य के प्रकाश को व्यक्त करता है। रामानुज इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि यह कथन कि अचेतन अहंकार स्वप्रकाशी आत्मा को व्यक्त करता है इस कथन से अधिक युक्ति और अर्थपूर्ण नहीं है कि जला हुआ कोयला सूर्य को

१ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३८।
२ शंकर भाष्य २ ३ ४।
३ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३२।
४ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३२।

अभिव्यक्त करता ह्। चेतना और 'अहकार' के दो विपरीत स्वभावों के मध्य अभिव्यक्ति का सम्बन्ध किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं हो सकता ह्। इसके साथ ही, अद्व त का हाथ और सूयकिरण का दृष्टान्त भी सत्य नहीं ह् क्योंकि वस्तुत' सूयकिरण हाथ के द्वारा किंचित भी अभिव्यक्त नही होती है।[१]

रामानुज के अनुसार ज्ञाता की धारणा में परिवर्तन की धारणा सन्नि हित नहीं ह्। वे श ार के इस आधारभूत सिद्धान्त से इन्कार करते हैं कि ज्ञाता होन का अथ परिवतनमय होता ह् और इसलिए ज्ञाता अपरिवतनशील चेतना से भिन्न होता है। अह, ज्ञान के विषयी की भाँति, अनिवायरूप से सक्रिय और परिवतनशील सिद्धान्त नहीं है और न यही प्रतिपादित किया जा सकता है कि ज्ञाता होना स्वरूपत परिवतनशील होना है।[२]

रामानुज के अनुसार आत्मा नित्य है और उसका चेतनत्व का नसर्गिक गुण भी नित्य है। किन्तु, तथापि यह चेतनत्व का गुण सकोच तथा प्रसार के अधीन है जो कि जीवन-चक्रों में व्यक्ति के कर्मों के कारण घटित होते हैं और इसलिए यह चेतना आत्मा का स्वाभाविक लक्षण नहीं है। कर्त्ता का गुण, किसी प्रकार से भी, आत्मा के लिए अनि वाय नहीं है, बल्कि कम द्वारा उत्पादित है और आत्मा स्वरूपत अपरिवतन शील है।[३] यहाँ शकर और उनके आलोचक रामानुज की स्थितियों म किंचित् भी भेद देख पाना मुश्किल है जब कि वस्तुत दोनों ही आत्मा और उसी प्रकार से चेतना की नित्यता में विश्वास प्रकट करते हुए परिवतन और कम को अचेतन अहकार पर या मात्र 'कम संयोगों' पर आरोपित करते हैं (वस्तुत, रामानुज के दो उपरोद्धृत वक्तव्य)। और न यही प्रतिपादित किया जा सकता है कि 'ज्ञाता होना स्वरूपत परिवतनशील होना है' तथा वह कम सयोगों के कारण, सकोच और प्रसार के अधीन है' तथा कर्त्ता का गुण आत्मा के लिए अनिवाय नही बल्कि कम द्वारा उत्पादित है, तादात्म्यक है जो कि उनके द्वारा विभिन्न अर्थों म प्रयोजित हुए हैं। यदि आत्मा को स्वरूपत अपरिवतनशील स्वीकार कर लिया जाता है तो यह बात बहुत महत्वपूण नहीं रह जाती है कि परिवतन और अहता (ज्ञातृत्व) के लक्षण 'अन्त करण' के कारण हैं या 'कम सयोगों के कारण। मुक्ति की सगति

१ रामानुज भाष्य, पृष्ठ ३२।
२ रामानुज भाष्य, १ १ १ पृष्ठ ३२।
३ रामानुज भाष्य, १ १ १ पृष्ठ ३२।

श्रौर जबकि सामान्य नियम यह है कि जो कुछ भी स्वय के समक्ष प्रगट होता है वह 'मैं' के रूप मे ही प्रगट होता है, यह मानने म कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि चेतना भी मैं के रूप म ही प्रकट हा सकती है क्योकि यह भी स्वय के समक्ष ही प्रगट होती है। इस कारण, उनका निष्कर्ष है कि जो वस्तु आन्तरिक आत्मा का गठन करती ह वह शुद्ध चेतना नही, बल्कि 'मैं' है।[१]

शंकर क आत्मा और अह प्रत्यय के विभेद पर, रामानुज की द्वितीय आलोचना इस आस्था पर आश्रमरण है कि अचेतन अत करण ज्ञाता के स्वरूप को धारण कर सकता ह। शकर की मान्यता थी कि चूँकि अहता या ज्ञाता का स्वरूप, कम और परिणामत परिवर्तन को अपने में समाविष्ट किए हुए ह, इसलिए वह अपरिवर्तनशील चेतना से सबधित नहीं हा सकता। कम और परिवर्तन ससीम चेतना के गुण हैं और अत कर्ता या 'भाता' के गुण, चेतना के निम्नतर सिद्धात, अह या जीव' से ही सबधित हा सकते हैं।[२] किन्तु रामानुज के लिए यह बात स्पष्टरूप स असगतिपूर्ण है कि अचेतन 'अहकार' या अत करण ज्ञाता बन सकती ह।[३] ज्ञान का कर्तव्य अचेतन अहकार से सबधित नहीं हो सकता ह। और न शुद्ध आत्मा के प्रतिबिम्ब की भाँति कर या अहता का सिद्धात ही प्रमाणित किया जा सकता है। 'हम पूछते हैं कि बुद्धि मे प्रतिबिम्ब के घटित होन की कल्पना किस तरह की जाती ह?' क्या चेतना अहकार का प्रतिबिम्ब बनती ह, या कि अहकार ही चेतना का प्रतिबिम्ब बनता है? प्रथम विकल्प स्वीकृति योग्य नहीं है क्योंकि ज्ञाता होने का गुण चेतना के लिए स्वीकार योग्य नहीं हागा और द्वितीय विकल्प भी उसी भाँति का है क्योंकि अचेतन वस्तु कभी भी ज्ञाता नहीं बन सकती है।[४]

रामानुज की आलोचना के विरोध म अद्वैतवाद का उत्तर यह ह कि अचेतन अहकार चेतना को उसी प्रकार से व्यक्त करता ह जिस तरह कि हाथ सूर्य के प्रकाश को व्यक्त करता है। रामानुज इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि यह कथन कि अचेतन अहकार स्वप्रकाशी आत्मा का व्यक्त करता है इस कथन से अधिक युक्ति और अर्थपूर्ण नहीं है कि जला हुआ कोयला सूर्य को

१ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३/।
२ शकर भाष्य २ ३ ४।
३ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३२।
४ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३२।

अभिव्यक्त करता ह । चेतना और 'अहंकार' के दो विपरीत स्वभावों के मध्य अभिव्यक्ति का सम्बन्ध किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं हो सकता ह । इसके साथ ही, अद्वैत का हाथ और सूर्यकिरण का दृष्टान्त भी सत्य नही ह क्योंकि 'वस्तुत' सूर्यकिरण हाथ के द्वारा किंचित भी अभिव्यक्त नही होती है ।[१]

रामानुज के अनुसार ज्ञाता की धारणा में परिवर्तन की धारणा सन्निहित नहीं ह । वे शंकर के इस आधारभूत सिद्धान्त से इन्कार करते हैं कि ज्ञाता होने का अर्थ परिवर्तनमय होता ह और इसलिए ज्ञाता अपरिवर्तनशील चेतना से भिन्न होता है । अहं, ज्ञान के विषयी की भाँति, अनिवार्यरूप से सक्रिय और परिवर्तनशील सिद्धान्त नहीं है और न यही प्रतिपादित किया जा सकता है कि ज्ञाता होना स्वरूपत परिवर्तनशील होना है ।[२]

रामानुज के अनुसार, आत्मा नित्य है और उसका चेतनत्व का नैसर्गिक गुण भी नित्य है । किन्तु, तथापि यह चेतनत्व का गुण संकोच तथा प्रसार के अधीन है जो कि जीवन-चक्रों में व्यक्ति के कर्मों के कारण घटित होते हैं और इसलिए यह चेतना आत्मा का स्वाभाविक लक्षण नहीं है । कर्ता का गुण, किसी प्रकार से भी, आत्मा के लिए अनिवार्य नहीं है, बल्कि कर्म द्वारा उत्पादित है और आत्मा स्वरूपत अपरिवर्तनशील है ।[३] यहाँ शंकर और उनके आलोचक रामानुज की स्थितियों में किंचित् भी भेद देख पाना मुश्किल है जब कि वस्तुत दोनो ही आत्मा और उसी प्रकार से चेतना की नित्यता मे विश्वास प्रकट करते हुए परिवर्तन और कर्म को अचेतन अहंकार पर या मात्र 'कर्म संयोगों' पर आरोपित करते हैं (वस्तुत, रामानुज के दो उपरोद्धृत वक्तव्य) । और न यही प्रतिपादित किया जा सकता है कि 'ज्ञाता होना स्वरूपत परिवर्तनशील होना है' तथा वह कर्म संयोगो के कारण, संकोच और प्रसार के अधीन है तथा कर्ता का गुण आत्मा के लिए अनिवार्य नही बल्कि कर्म द्वारा उत्पादित है, तादात्म्यक है जो कि उनके द्वारा विभिन्न अर्थों में प्रयोजित हुए हैं । यदि आत्मा को स्वरूपत अपरिवर्तनशील स्वीकार कर लिया जाता है तो यह बात बहुत महत्वपूर्ण नहीं रह जाती है कि परिवर्तन और अहंता (ज्ञातृत्व) के लक्षण 'अन्त करण' के कारण हैं या 'कर्म संयोगों के कारण । मुक्ति की संगति

---

१ रामानुज भाष्य, पृष्ठ ३२ ।

२ रामानुज भाष्य, १ १ १ पृष्ठ ३२ ।

३ रामानुज भाष्य, १ १ १ पृष्ठ ३२ ।

और जबकि सामान्य नियम यह है कि जो कुछ भी स्वय के समक्ष प्रगट होता है वह 'मैं' के रूप म ही प्रगट होता है, यह मानने म कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिये कि चेतना भी 'मैं' के रूप में ही प्रगट हो सकती है क्योंकि वह भी स्वय के समक्ष ही प्रगट होती है। इस कारण, उनका निष्कर्ष है कि जो वस्तु आंतरिक आत्मा का गठन करता है वह शुद्ध चेतना नहीं, बल्कि 'मैं' है।[1]

शकर के आत्मा और अहं प्रत्यय के विभेद पर, रामानुज की द्वितीय आलोचना इस आस्था पर आक्रमण है कि अचेतन अंत करण ज्ञाता के स्वरूप को धारण कर सकता है। शकर की मान्यता थी कि चूंकि अहंता या ज्ञाता का स्वरूप, कर्म और परिणामन परिवर्तन को अपने म समाविष्ट किए हुए है, इसलिए वह अपरिवर्तनशील चेतना से सबधित नहीं हो सकता। कर्म और *परिवर्तन ससीम चेतना के गुण हैं और अत कर्ता या 'ज्ञाता के गुण चेतना* के निम्नतर सिद्धात, अहं' या 'जीव' से ही सबंधित हो सकते हैं।[2] किन्तु रामानुज के लिए यह बात स्पष्टरूप से असंगतिपूर्ण है कि अचेतन अहंकार' या अत करण ज्ञाता बन सकती है।[3] ज्ञान का कर्तृत्व अचेतन अहंकार से सबधित नहीं हो सकता है। और न शुद्ध आत्मा के प्रतिबिम्ब की भाँति *कर का अहंता का सिद्धात ही प्रमाणित किया जा सकता है। 'हम पूछते* हैं कि बुद्धि के प्रतिबिम्ब के घटित होने की कल्पना किस तरह की जाती है?' क्या चेतना अहंकार का प्रतिबिम्ब बनती है, या कि अहंकार ही चेतना का प्रतिबिम्ब बनता है? प्रथम विकल्प स्वीकृति योग्य नहीं है क्योंकि ज्ञाता होने का गुण चेतना के लिए स्वीकार योग्य नहीं होगा और द्वितीय विकल्प भी उसी भाँति का है *क्योंकि अचेतन वस्तु कभी भी ज्ञाता नहीं बन* सकती है।[4]

रामानुज की आलोचना के विरोध में अद्वैतवाद का उत्तर यह है कि अचेतन अहंकार चेतना को उसी प्रकार से व्यक्त करता है जिस तरह कि हाथ सूर्य के प्रकाश को व्यक्त करता है। रामानुज इसके प्रत्युत्तर में कहते हैं कि यह कथन कि अचेतन अहंकार स्वप्रकाशी आत्मा को व्यक्त करता है इस कथन से अधिक युक्ति और अर्थपूर्ण नहीं है कि जला हुआ कोयला सूर्य को

---

१ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३८।
२ शकर भाष्य २ ३ ४।
३ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३२।
४ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३२।

अभिव्यक्त करता है। चेतना और 'अहंकार' के दो विपरीत स्वभावों के मध्य अभिव्यक्ति का सम्बन्ध किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं हो सकता है। इसके साथ ही, अद्वैत का हाथ और सूर्यकिरण का दृष्टान्त भी सत्य नहीं है, क्योंकि वस्तुतः सूर्यकिरण हाथ के द्वारा किंचित भी अभिव्यक्त नहीं होती है।[१]

रामानुज के अनुसार ज्ञाता की धारणा में परिवर्तन की धारणा सन्निहित नहीं है। वे शंकर के इस आधारभूत सिद्धान्त से इन्कार करते हैं कि ज्ञाता होने का अर्थ परिवर्तनमय होता है और इसलिए ज्ञाता अपरिवर्तनशील चेतना से भिन्न होता है। अहं ज्ञान के विषयी की भाँति, अनिवार्यरूप से सक्रिय और परिवर्तनशील सिद्धान्त नहीं है और न यही प्रतिपादित किया जा सकता है कि ज्ञाता होना स्वरूपतः परिवर्तनशील होना है।[२]

रामानुज के अनुसार, आत्मा नित्य है और उसका चेतनत्व या नैसर्गिक गुण भी नित्य है। किन्तु, तथापि यह चेतनत्व का गुण संकोच तथा प्रसार के अधीन है जो कि जीवन-चक्रों में व्यक्ति के कर्मों के कारण घटित होते हैं और इसलिए यह चेतना आत्मा का स्वाभाविक लक्षण नहीं है। कर्त्ता का गुण, किसी प्रकार से भी, आत्मा के लिए अनिवार्य नहीं है, बल्कि कर्म द्वारा उत्पादित है और आत्मा स्वरूपतः अपरिवर्तनशील है।[३] यहाँ शंकर और उनके आलोचक रामानुज की स्थितियों में किंचित् भी भेद देख पाना मुश्किल है जब कि वस्तुतः दोनों ही आत्मा और उसी प्रकार से चेतना की नित्यता में विश्वास प्रकट करते हुए परिवर्तन और कर्म को अचेतन अहंकार पर या मात्र 'कर्म संयोगों' पर आरोपित करते हैं (वस्तुतः, रामानुज के दो उपरोद्धृत वक्तव्य)। और न यही प्रतिपादित किया जा सकता है कि ज्ञाता होना स्वरूपतः परिवर्तनशील होना है तथा यह कर्म संयोगों के कारण संकोच और प्रसार के अधीन है तथा कर्त्ता का गुण आत्मा के लिए अनिवार्य नहीं बल्कि कर्म द्वारा उत्पादित है, तादात्म्यक है जो कि उनके द्वारा विभिन्न अर्थों में प्रयोजित हुए हैं। यदि आत्मा को स्वरूपतः अपरिवर्तनशील स्वीकार कर लिया जाता है तो यह बात बहुत महत्वपूर्ण नहीं रह जाती है कि परिवर्तन और अहंता (ज्ञातृत्व) के लक्षण अन्तःकरण के कारण हैं या 'कर्म संयोगों' के कारण। मुक्ति की संगति

---

१ रामानुज भाष्य, पृष्ठ ३२।

२ रामानुज भाष्य, १ १ १ पृष्ठ ३२।

३ रामानुज भाष्य, १ १ १ पृष्ठ ३२।

चेतना के दो स्तरों की मान्यता में निहित है—एक अपरिवर्तनशील तथा अहं-हीन स्तर की चेतना तथा दूसरी अहंता तथा कर्म और परिवर्तन के स्तर की चेतना जिन्हें कि रामानुज भी वस्तुतः स्वीकृत करने को बाध्य हो जाते हैं।

इसके पश्चात् रामानुज, शंकर की 'साक्षी चेतना' की धारणा की आलोचना करते हैं। साक्षी चेतना अहंहीन चेतना का ही एक रूप है जो कि प्रगाढ़ निद्रा में उपस्थित रहती है। रामानुज के लिए 'साक्षी तथा 'अहं' की धारणायें तादात्म्यक हैं। वह पूछते हैं कि साक्षी का अर्थ क्या है ? साक्षी' का अर्थ है वह व्यक्ति जो किसी विषय के सम्बन्ध में व्यक्तिगत निरीक्षण के द्वारा ज्ञान रखता है। उस व्यक्ति को 'साक्षी' नहीं कहा जा सकता जो किसी विषय के प्रति अज्ञानी है।[1] मात्र चेतना को भी 'साक्षी' नहीं माना जा सकता है। अब, यद्यपि साक्षी होने का अर्थ ज्ञान से शून्य होना नहीं है, तथापि तटस्थ और अप्रभावित साक्षी तथा वास्तविक साक्षी और प्रभावित भोक्ता' या 'जीव' की धारणाओं के बीच स्पष्टरूप से अन्तर प्रतीत होता है। 'साक्षी और जीव' के बीच कम से कम इतना अन्तर तो है ही जितना कि फुटबाल के खेल में एक खिलाड़ी और मध्यस्थ पंच के बीच होता है। 'साक्षी' यथार्थ ज्ञाता है किन्तु वह वास्तविक तथा सक्रिय साझीदार नहीं होता, और अतएव वह खेल के विपर्ययों से प्रभावित नहीं होता है। साक्षी चेतना' की धारणा की आवश्यकता, चेतना के परिवर्तनशील रूपों स्तरों वृत्तियों के बीच जो कि वास्तविक तथा सक्रिय कर्ता के द्योतक हैं एक रस समान बनी रहने वाली अपरिवर्तनशील चेतना की जरूरत के कारण पैदा होती है।[2] चेतना की सक्रिय वृत्तियों और अहं प्रत्यय की स्थितियों के द्वारा ही चेतन जगत की व्याख्या नहीं की जा सकती है। इस व्याख्या के हेतु इन वृत्तियों और स्थितियों की पृष्ठभूमि में एक साक्षी चेतना की उपस्थिति को मान्यता प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है।

रामानुज, जब कि चेतना के मूर्त पहलुओं पर न्यायसंगत रूप से स्थिर हैं चेतना के अनुभवमूलक बाह्य ढाँचे की अनुभवमूलक पृष्ठभूमि की वे उसी भाँति उपेक्षा करते हैं जिस तरह कि किसी खेल के मनोभाव देखने वाले केवल विजयी तथा खिलाड़ियों को ही देख पाते हैं, तटस्थ पंच को नहीं। इसके साथ ही यदि 'साक्षी तथा 'जीव में किसी प्रकार का भेद नहीं है और यदि

१ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३६।

२ पंचदशी १० ६ १६।

'साक्षी' के लिए देखने के हेतु किसी 'पर' की आवश्यकता है, तब ज्ञाता और ज्ञेय के द्वैत की यह नित्य स्थिति 'सर्वज्ञता' या 'सर्वज्ञता' की अवस्था को सदैव के लिए असम्भव बना देती है। अपूर्ण ज्ञाता जीव किसी न किसी समय प्रत्येक वस्तु को इतने पूर्णरूप से जानता है कि उसके बाहर कोई 'पर' शेष नहीं रह जाता है और तब उसे जीव नहीं बल्कि साक्षी यह पर पुकारा जाता है।

अहं प्रत्ययहीन चेतना तथा प्रगाढ़ निद्रा

विभेदहीन नित्य चेतना के स्वरूप के ज्ञान के लिए प्रगाढ़ निद्रावस्था का अध्ययन एक उपयोगी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करता है। उस प्रकार की नित्य चेतना जिस तरह की कि प्रगाढ़ निद्रा या तुरीयावस्था में उपस्थित होती है चेतना तो है किन्तु स्व चेतना नहीं है क्योंकि स्वप्नहीन निद्रा में कोई विषय उपस्थित नहीं होते जिनके विरोध में कि अहं चेतना या अहं प्रत्यय का उद्भव सम्भव हो सकता हो। स्व चेतना विषयों की चेतना की मध्यस्थता द्वारा आत्मा की चेतना है। इस तरह की चेतना 'जागृत तथा स्वप्नावस्था' में पाई जाती है और जहाँ कोई विषय अस्तित्व में नहीं होता है, वहाँ मध्यस्थता के अभाव में इस तरह की चेतना का भी अभाव स्वाभाविक है। इस तरह स्वप्नहीन या प्रगाढ़ निद्रा में किसी प्रकार की स्व-चेतना का अस्तित्व नहीं होता है। इस अवस्था में केवल एक 'अविभेदी' या निर्विषय और 'चिन्मात्र' उपस्थिति का अस्तित्व में होती है। इसके ठीक विपरीत वहाँ जहाँ विषयों की उपस्थिति के द्वारा मध्यस्थता सम्भव है, जैसा कि जागृत और स्वप्न में होता है वहाँ जीव के रूप में अविभेद चेतना की उपस्थिति भी होती ही है जो कि 'अहम् और इदम्' के विभेदों में आनन्द लेता है। किन्तु तब इस अवस्था में 'निराश्रय और निर्विषय 'शान्ति मात्र चित् प्रकाश चेतना का यह अर्थ नहीं होता है कि आधारभूत आधार की भाँति सदैव ही उपस्थित रहता है।

रामानुज कहते हैं कि प्रगाढ़ निद्रा में अहं चेतना बाह्य विषयों के अभाव के कारण सुस्पष्ट नहीं होती।[1] वह इस कारण इस सिद्धान्त को ग्रहण करते हैं कि चेतना का अस्तित्व बाह्य विषयों की मध्यस्थता के कारण है। उनके अनुसार अहं चेतना चेतना की एक अन्तिम सीमा है तथा दूसरी अन्तिम सीमा 'विषय चेतना' है। इस कारण जहाँ इस मध्यस्थता की सम्भावना नहीं होती

१ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ ३५।

है वहाँ स्व-चेतना का अस्तित्व भी नहीं होता है। इस तरह, हमारे समक्ष यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रगाढ़ निद्रावस्था में परोक्ष चेतना का अस्तित्व होता है या अपरोक्ष चेतना का ?

रामानुज स्वीकार करते हैं कि प्रगाढ़ निद्रा में कोई विषय नहीं होते हैं और अत वहाँ किसी प्रकार की परोक्ष चेतना की भी सम्भावना नहीं है। इस तरह केवल एक ही विकल्प शेष रह जाता है और वह यह कि या तो चेतना की उपस्थिति से इन्कार किया जाय और परिणामत चेतना की अविच्छिन्नता को खंडित स्वीकार कर लिया जाय, अथवा फिर बाह्य विषयो की मध्यस्थता से रहित, एक नित्य अपरोक्ष चेतना के अस्तित्व को स्वीकृति प्रदान की जाय। 'अहं चेतना' 'विषयचेतना' की विपरीतता में ही केवल अस्तित्व में हो सकती है, और विषयो के अभाव में उसे भी अनिवार्यत चला ही जाना चाहिए। रामानुज एक को बिना रोके दूसरे को भी नहीं रोक सकते हैं। किन्तु वह विषय चेतना को नष्ट करके भी अहं-चेतना को शेष रखना चाहते हैं जो कि स्पष्टरूपेण असगत है। प्रगाढ़ निद्रा में या तो अहं प्रत्ययहीन चेतना होती है या फिर चेतना का पूर्ण अभाव हो जाता है। और चूँकि द्वितीय विकल्प स्वीकृति-योग्य नहीं है, इसलिए चेतना के विषयी विषय की तुलना के सिद्धान्त की सगति में केवल प्रथम विकल्प ही शेष रह जाता है। यह अहं-हीन चेतना न तो मनोवैज्ञानिक आत्मा है और न चेतना का कोई रूप विशेष ही, बल्कि चेतना के समग्र अनुभवमूलक तथा विशिष्ट रूपान्तरों या वृत्तियों द्वारा पूर्वप्रस्तावित वह चेतना है जिसे स्वयं किसी विषय की तरह नहीं जाना जा सकता है। निद्रावस्था में, विषय चेतना की अनुपस्थिति में भी, अहं-चेतना को अवशिष्ट मानने वाला रामानुज का सिद्धान्त एक अन्य कठिनाई से भी घिरा हुआ है। वह कठिनाई है चेतना की मात्राओं के सिद्धान्त की स्वीकृति जो कि चेतना की नित्यता के सिद्धान्त के साथ सगतिपूर्ण नहीं है। उदाहरणार्थ रामानुज ने कहा है कि यद्यपि 'अहं प्रत्यय' का विभेद हमारी चेतना का एक स्थायी लक्षण है, तथापि वह क्षीण तथा मद्धिम होता है यद्यपि उसके अस्तित्व का पूर्ण लोप कभी नहीं होता है। इससे 'अहं-चेतना के स्पष्टीकरण तथा अस्पष्टीकरण की मात्राओं की स्वीकृति अनुगमित होती है जो कि विभेदों के अनन्त रूपों में चेतना के सतत रूपान्तर के सिद्धान्त की ओर ले जाता है और इस भाँति उसकी अपरिवर्तनशीलता के सिद्धान्त की धारणा का विनाश कर देता है। रामानुज की धारणानुसार, यदि 'अहं चेतना' सकोच और प्रसार करती है तब कोई कारण नहीं है कि वह सकोच की न्यूनतम सीमा अर्थात् निर्वाण (समाप्ति) तथा प्रसार की महत्तम सीमा अर्थात्

पूर्ण 'मैं-हीन' चेतना तक क्यों नहीं जा सकती है ? किंतु यह दोनों ही रामानुज के लिए अत्यन्त असुखकर विकल्प है ।

इस तथ्य को सामान्यरूप से मान्यता प्राप्त है कि प्रगाढ़ निद्रावस्था में अचेतना के उद्भव का प्रतीत होना विषयों की अनुपस्थिति के कारण होता है न कि स्वयं चेतना के अभाव के कारण ।[१] इस कारण, चेतना को आत्मा का स्वरूप स्वीकार करने और तब भी प्रगाढ़ निद्रा में एक ऐसी आत्मा को मानने में जो कि किसी भी विषय के प्रति चेतन नहीं है कोई असंगति नहीं है, क्योंकि आत्मा स्वप्नहीन निद्रा के अन्तर्गत भी 'देखती' है यद्यपि (विषयाभाव के कारण) यह प्रतीत होता है कि वह कुछ भी नहीं देख रही है ।[२] इस प्रकार की अवस्था में आत्मा सूर्य की तरह है जो कि स्वरूपतः प्रकाशन या प्रकाश से संगठित है यद्यपि उसे स्वरूपतः 'प्रकाशक' की भाँति नहीं विचारा जाता । उससे भिन्न वस्तुएँ जहाँ कहीं भी होती हैं, वे अपने आप उससे प्रकाशित हो जाती हैं, किन्तु उस समय भी जब कोई विषय उपस्थित नहीं होते हैं, वह बुझ नहीं जाता बल्कि अपने ही प्रकाश में प्रकाशित बना रहता है ।[३]

आत्मा को प्रगाढ़ निद्रा में भी उसकी अनिवार्य एवं स्थायी दृष्टि या ज्ञान के कारण द्रष्टा कहा जाता है । यदि यह दृष्टि या ज्ञान मात्र क्रियात्मकता या आत्मा का एक सांयोगिक लक्षण मात्र ही होता तो वह निश्चय ही अचेतन के क्षणों में समाप्त हो जाता । किन्तु वह दृष्टि जो कि उसका स्वरूप ही है, इस तरह समाप्त या अन्तरालों में खण्डित नहीं हो सकती । इस तरह की आधारभूत चेतना को अनवरोध अस्तित्व में होना ही चाहिए किन्तु स्व-चेतना की उपस्थिति इस तरह अनवरुद्ध और अखण्डित नहीं हो सकती क्योंकि उसका अस्तित्व सापेक्ष है और वह विषयों की उपस्थिति और 'चित्त वृत्तियों' के अनुवर्ती रूपान्तरों पर निर्भर होता है । इन परिस्थितियों की अनुपस्थिति में, आत्मा स्वयं अपने ही सत् स्वरूप से एकता की अवस्था में होता है । उसे इस अवस्था में किसी विशिष्ट प्रकार का ज्ञान बोध नहीं होता, तथा बाह्य या आन्तरिक 'पर' या 'स्व' की भी उसी भाँति कोई चेतना नहीं होती है जिस भाँति की उस पुरुष की द्वैत भावना खो जाती है जो कि अपनी प्रेयसि के प्रेमालिंगन में होता है ।

---

१ शांकर भाष्य २ ३ १८ ।

२ बृहदारण्यक ४ ३ २३ ।

३ बृहदारण्यक ४ ३ २३ ।

पाश्चात्य दर्शन में यह प्रश्न अक्सर उठाया गया है कि 'यदि आत्मा चेतनत्व का एक सिद्धान्त है तो इन्द्रियां (वाह्य तथा आन्तरिक) की समग्र आवश्यक सामग्री को पृथक् कर लेने पर चेतना का कौन सा अंश पीछे अवशिष्ट रह जाता है ?' इस प्रश्न का उत्तर बौद्धिक विचारणा तथा स्वानुभूति के मध्य किए गए भेद के द्वारा दिया जाता है। स्वानुभूति या स्वप्रकाशन में समग्र अनुभवमूलक विचारणा पृथक् हो जाती है तथा आत्मा बिना किसी भेद या रूपान्तर के अपने विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप में ही शेष रह जाती है। इस दृष्टिकोण का योगसूत्रों[1] के आधार पर समर्थन किया गया है, जहां कि 'असम्प्रज्ञात समाधि' 'चेतनाहीन चेतना' की तरह प्रतिपादित है तथा 'पुरुष' को 'बोधिस्वरूप' या 'स्वरूप मात्र' की भांति अस्तित्व में बताया गया है। व्यावहारिक और पारमार्थिक चेतना प्रकार की दृष्टि से भिन्न हैं। व्यावहारिक चेतना में ग्राह्य, ग्रहण तथा गृहीत की त्रिमूर्ति सन्निहित होती है जिनके विभेद से पारमार्थिक चेतना नितान्त अतीत है।[2]

इस प्रकार, नित्य चेतना की परिकल्पना का अचेतना के प्रगट रिक्त स्थानों के साथ समायोजन करने का प्रयास किया गया है क्योंकि यह स्वचेतना है जो कि इन रिक्त स्थानों में अनुपस्थित होती है, न कि 'नित्य चेतना' जो कि कभी तिरोहित नहीं होती है। परोक्ष चेतना विषयों की उपस्थिति से सीमित है और इस कारण वह निरपेक्ष नहीं है किन्तु नित्य चेतना अपने अस्तित्व के लिए किसी की अपेक्षा में न होने के कारण निरपेक्ष चेतना है। वह न सीमित है और न सापेक्ष है। सविभेद चेतना हमारी आत्मा का स्थायी लक्षण नहीं है और न ही परोक्ष चेतना वह एकमात्र रूप है जिसमें कि हमारी चेतना का अस्तित्व होता है। हमारे ज्ञान के समग्र विभेद एवं अविभेदी तथा परिवर्तनशील चेतना की पूर्व प्रस्तावना करते हैं जो कि किसी भी रूप में, हमारे जाग्रत या स्वप्नावस्थाओं में अन्तर्गत अनुभूत नहीं की जा सकती है। इस कारण, प्रगाढ़ निद्रा में भी चेतना की अवस्थिति मानना आवश्यक है तथा उसके प्रगट रिक्त स्थानों की व्याख्या परोक्ष चेतना की अनुपस्थिति में खोजी जानी चाहिए न कि स्वयं चेतना की ही अनुपस्थिति में, अर्थात् चेतना का अस्तित्व उस समय भी होता है जब कि विषयों या विषयी किसी की भी

---

१ योग सूत्र (१) १८ ५० ५१। (२) २७ २०। (३) ४०।
(४) ३५ ३४।

२ योग सूत्र (१) ४२ ४१। (२) २० २५। (३) ४७ ५० ४८।
(४) ३४।

चामना का कोई अस्तित्व नहीं होता है। यह स्व-चेतन आत्मा या किसी विषय विशेष की चेतना के रूप म अस्तित्व में नहीं, वल्कि मात्र 'चेतनत्व' की तरह अस्तित्व में होती है। यही याज्ञवल्क्य का स्वचेतनाहीन चेतना का यह सिद्धान्त है जिसके प्रतिपादन की यहाँ यह प्रदर्शित करके अभीच्छा की जा रही है कि आत्मा तथा अनात्मा के विभेदो की चेतना को हमारे जीवन के नित्य लक्षण के रूप म प्रतिपादित करने का सम्पूर्ण प्रयास असमायोजित विरोधों की ओर ले जाता है।

'अत्यन्त विवेक', 'केवल या पुरुष' तथा 'चिन्मात्र' की भाँति, विषयी विषय रहित शाश्वत चेतना की यह हिन्दू धारणा प्रगाढ़ निद्रा तथा स्वचेतना की अन्य उलझनो की एक व्याख्या की तरह उस प्रत्ययवादी विचारधारा के आधुनिक सिद्धान्तो से कहीं अधिक सगतिपूर्ण है जो कि नित्य चेतना की धारणा को तो स्वीकार करते हैं, किन्तु विषय-वस्तु रहित चेतना की धारणा को स्वीकार नहीं कर पाते हैं। आधुनिक प्रत्ययवादी विचारक प्रगाढ़ निद्रा मे विषय तथा विषय-वस्तु रहित चेतना की बजाय स्वचेतना को मानना ही कहीं अधिक पसन्द करते हैं किन्तु इस तरह की मान्यता में जो महत्वपूर्ण तथ्य विस्मृत कर दिया जाता है वह यह है कि सविभेद तथा सापेक्ष चेतना भी, इन्हीं विभेदों और सम्बन्धो के आधारभूत आधार की तरह, एक अविभेदी, सम्बन्धहीन तथा निरपेक्ष चेतना को पूर्व प्रस्तावित करती है।

निष्कर्ष

हिन्दू विचार की विभिन्न आस्तिक दर्शन प्रणालियों से स्वचेतना की समस्याओं का पूर्वगामी अध्ययन यह प्रदर्शित करने के हेतु किया गया है कि प्रथमत

(१) स्वचेतना का सम्बन्ध विशुद्ध चेतना के जगत् से नहीं है, और यदि 'चेतना' से आधारभूत विशुद्ध 'चेतनत्व' का अर्थ ग्रहण किया जाता है, जो कि सम्पूर्ण सीमित करनेवाले विशेषणों और 'यह तथा अन्' अहम् के विभेदो से हीन है तो स्वचेतना की समस्या का उद्भव ही नहीं होता है। तथा द्वितीय कि

(२) यह कोई महत्व नहीं रखता कि विचार की किस प्रणाली से हमारा सम्बन्ध है किन्तु जसे हम व्यावहारिक क्षेत्र की निम्नतर धारणा पर उत रते हैं, वैसे ही हमें चेतना म विषयी विषय के विभेद के लिए प्रस्तुत होना और इस तरह स्वचेतना के सिद्धान्त के लिए प्रस्तुत होना पड़ता है। यह प्रश्न

कि ठीक रूप से आत्मा का प्रत्यक्ष किस प्रकार होता है, न्यायानुमोदित 'अनुमान' से, या वेदान्त तथा सांख्य-योग मतानुसार अपरोक्षानुभूति या 'प्रातिभज्ञान' से, या कुमारिल के मतानुसार साधारण मानसिक प्रत्यक्ष से, या पुन प्रभाकर के अनुसार विषयी की भाँति स्व प्रत्यक्ष से, यह दिखाने से अलग स्वयं अपने आप में बहुत कम महत्त्व रखता है कि आत्मा, अहं या 'मैं' की तरह ज्ञान में आनेवाली वस्तु स्वयं चेतना कभी नहीं होती, बल्कि यह चेतना की कोई स्थितिविशेष या रूपान्तर मात्र ही होती है। इस तथ्य से चेतना के अद्वय, शुद्ध और अविभाजनीय स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

(३) यह भी दिखाया जा चुका है कि आत्मचेतना की प्रत्येक स्थिति में दो बातें अनिवार्यतः घटित होती हैं (अ) आत्माओं का अनवस्था दोष, प्रसंग, और (ब) आत्मा का विषय बनना जो कि उसके स्वरूपतः विषयी स्वभाव के नितान्त विपरीत पड़ता है। अनवस्था दोष तथा आत्मा के एक विषय में परिणत होने के ये दोनों ही विकल्प स्वीकृतियोग्य नहीं हैं यद्यपि ये दोनों ही स्वचेतना के तथ्य में आवश्यकरूप से सन्निहित हैं। इन विरोधों का एक मात्र उत्तर अहं प्रत्ययहीन चेतना को मान्यता प्रदान करके ही केवल दूर किया जा सकता है क्योंकि इसमें ये अपना समाधान पा सकते हैं।

इस कारण चेतना के दो पहलुओं, अनुभवातीत तथा अनुभवाश्रित, की स्पष्ट स्वीकृति की अत्यन्त आवश्यकता है। अनुभवाश्रित या व्यावहारिक चेतना की उलझनें तथा विरोध अनुभवातीत या पारमार्थिक चेतना की धारणा में समायोजित हो जाते हैं। इस स्वीकृति पर ही 'आत्मा तथा 'जीव' का अद्वैतवादी भेद आधारित है। 'आत्मा' चेतना का नित्य प्रकाश है। 'जीव' शरीर, इंद्रियाँ, मनस् तथा अन्तःकरण द्वारा सीमित नित्य चेतना है। आत्मा सम्पूर्ण अनुभव का आधार तथा पूर्व प्रस्तावना है। जीव विषयी तथा विषय दोनों हो सकता है जबकि आत्मा चेतना का विषय कभी भी नहीं हो सकती है। यह चेतना का विषय तभी बन सकती है जब अपनी पवित्रता को खो देती है और अपने सीमित करनेवाले विषयों के द्वारा निर्धारित होती है। अन्तरतम प्राण की तरह आत्मा का ज्ञान केवल अपरोक्षानुभूति के द्वारा ही होता है।[१]

(४) विषयवस्तु रहित तथा आधारभूत चेतना के सिद्धान्त की स्वीकृति का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम अक्रिय आत्मा की धारणा भी है क्योंकि ज्ञाता होने में ग्रहण या ज्ञान की क्रिया अनिवार्यतः सन्निहित होती है। शून्य में किसी प्रकार की क्रिया नहीं हो सकती।

प्रत्ययवादी विचार, ज्ञान की आवश्यक पूर्वप्रस्तावनाओं की प्रागनुभव निगमन प्रणाली का अनुसरण करके प्राय अनिवार्यरूप से परिवर्तन और विकास की भूमि एव आधार की तरह एक पूर्णरूपेण अपरिवर्तनशील, अक्रिय एव अचलरूप से स्वसमान चेतना की धारणा पर पहुँचाता है। इसलिए, इसकी दृष्टि मे, कुछ भी जो विकसित तथा परिवर्तित होता है वस्तुत यथार्थ नहीं हो सकता, और इस तरह यथार्थ' या सत्य अपरिवर्तनीयता, 'नित्य' तथा 'अविक्रिय' से तादात्म्यक हो जाता है। इसके ठीक विपरीत, यथार्थवादी विचार की स्थिति है। वह व्यावहारिक ज्ञान तथा अनुभवमूलक और सदव निरीक्षण योग्य तथ्यों की सीमा का अतिक्रमण करने की अपनी अनिच्छा के कारण यथार्थ के एक अधिक आधारभूत तथा सत्यतर लक्षण की भाँति विकास, क्रियात्मकता तथा परिवर्तन की धारणा पर पहुँचता है। इन विरोधी दृष्टिविन्दुओं से प्रारम्भ करने के कारण प्रत्ययवादियों तथा यथार्थवादियों के निष्कर्षों की विभिन्नता किंचित् भी आश्चर्यजनक नहीं रह जाती है। यथार्थवादी के लिए प्रत्ययवादी द्वारा प्रस्तावित अनुभवातीत सत्य जो न कुछ बनता है और न ही अपने को रूपान्तरित ही करता है बल्कि नितान्त एकाकीरूप से स्वय अपने म ही प्रतिष्ठित बना रहता है, न सिफ अनुभवमूलक दृष्टि से ही अज्ञात है बल्कि व्यावहारिक रूप से अपरिणामी भी है।

यह जानना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि परम सत्य की तरह अचल चेतना या 'अविक्रिय चिन्मात्र' की धारणा में प्रत्ययवादी निष्कर्ष म और परिवर्तन, तथा क्रियात्मकता का काय यथार्थ क एक निम्नतर सिद्धान्त को प्रदान करने में शकर का अद्वयवादी दृष्टिकोण तथा साख्य-योग की द्वयवादी विचारधारा, दोनों उस सीमा तक मिलते और एक दूसरे से सहमत होते हैं, जहाँ तक परिवर्तन तथा क्रियात्मकता का सम्बन्ध पूर्वगामी मे जीव या अविद्या से तथा उत्तरवर्ती में जड 'प्रकृति से बताया गया है। वेदान्त म पारमार्थिक आत्मा तथा साख्य योग में 'पुरुष परिवर्तन तथा क्रियात्मकता से मुक्त प्रस्तावित किये गये हैं।

● ●

---

१ शांकर भाष्य भूमिका, पृष्ठ १०। आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज।

छठा अध्याय

चेतना का अनुभवातीत स्वभाव

प्रस्तावना

हमने विगत अध्याय में देखा है कि स्वचेतना की समस्या का अध्ययन हमें यह प्रत्ययहीन तथा अनुभवातीत की एक ऐसी चरम धारणा की ओर ले जाता है जो कि हमारे सम्पूर्ण ज्ञानानुभव की पूर्व प्रस्तावना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती है। हमने देखा है कि ज्ञान के किसी भी सन्तोष जनक सिद्धान्त के लिए चेतना के दो प्रकारों तथा दो विभिन्न सिद्धान्तों के लिए स्थान बनाना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है जिनमें से एक रूपान्तरों से गुजरता है जबकि दूसरा नितान्त अरूपान्तरित तथा अपरिवर्तनीय बना रहता है। पूर्वगामी को अन्तःकरण, चित्त या बुद्धि तथा उत्तरोत्तर को 'चित्' या 'बोध' कहा जा सकता है। मानसिक रूपान्तर तथा अन्तःकरण की वृत्तियाँ स्वयं केवल अपने ही द्वारा ज्ञान का विधान नहीं करतीं, क्योंकि स्वयं अपने आप पर छोड़ दिए जाने पर वे एकदम अचेतन और जड़ हैं। किसी विषय के ज्ञान का उद्भव केवल तभी हो सकता है जबकि चेतना का प्रकाश या 'चित्', जो कि अन्तःकरण की वृत्तियों से अन्य है, विषय तथा वृत्तियों दोनों को एकत्रित रखता तथा उन्हें प्रकाशित करता है। 'अन्तःकरण' तथा 'चित्', अचेतन परिवर्तनशील सिद्धान्त तथा चेतन अपरिवर्तनशील सिद्धान्त के मध्य का भेद इतना आधारभूत है कि चेतना की कोई भी तत्त्वमीमांसा उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती। यह भेद इतना महत्त्वपूर्ण है कि चेतना की समस्या से सम्बन्धित किसी भी तत्त्वमीमांसा का वह एक अनिवार्य भाग कहा जा सकता है।

योगभाष्य मनस् तथा आत्मा के मध्य इस विभेद को स्वीकार करने के लिए तीन कारण प्रस्तुत करता है।[1] मन आत्मा से भिन्न है क्योंकि प्रथमतः पूर्वगामी रूपान्तरित होता है द्वितीय मन चित् के प्रयोजन को पूरा करता है जिसके लिए कि वह एक विषय है जबकि अनुभवातीत आत्मा या पुरुष के लिए कोई भी साध्य प्रातियोग्य नहीं है तथा अन्ततः, मन 'दृश्य', 'ग्राह्य'

---

1 योग भाष्य, २ २०

तथा 'तामस' के रूप ग्रहण करता है जबकि आत्मा मुक्त है तथा इन विधायक तत्वों में से किसी के भी गुण को अपने पर ग्रहण नहीं करता है।[१] यह अनुभव निरपेक्ष चेतना 'साक्षी' केवल तथा अकर्मा की भाँति अस्तित्व में होती है। वह परिवर्तनों म प्रवेश नहा करती और अपनी अन्य प्रतिमूर्ति बुद्धि से भिन्न होती है। उसका अस्तित्व एक विशुद्ध विषयी का अस्तित्व है जो कि चित्त के विभिन्न रूपभेदों म परिवर्तित होने में सक्षम होता है। इस प्रकार विशुद्धात्मा, व्यावहारिक ज्ञान घटनाओं से विभिन्न है क्योंकि वह इन ज्ञान घटनाओं का भी ज्ञाता है।[२]

चेतना का दो रूपों म यह विभाजन प्रथम परिवतन के मध्य अपरिवर्तित तथा द्वितीय विषय वस्तुओं तथा मानसिक वृत्तियों के अनुरूप परिवतनशील दार्शनिकों के बीच विवाद की एक जड़ तथा भ्रमों के जन्म का स्रोत रहा है। कणाद श्रीधर और जयन्त की तरह के यथार्थवादी तथा रामानुज सरीखे प्रत्ययवादी भी दैनिक अनुभव की दृढ भूमि से प्रारम्भ करके विभिन्न विषय वस्तु से पूर्ण एक परिवर्तनशील तथा शीघ्र अनुक्रमी चेतना को पाते हैं जो कि स्वयं ही परिस्थितियों के सान्निध्य का एक परिणाम है और जिसमें कि चेतना के एकमात्र दृश्य स्वभाव की भाँति विषयों तथा विषय का अनिवार्य सन्दर्भ सन्निहित होता है। और यद्यपि अनुभव की एक संगतिपूर्ण धारा के निर्माण के हेतु यथार्थवादी को बाध्य होकर पुनस्मरण तथा वैयक्तिक तादात्म्य की व्याख्या के लिए एक नित्य रूप से उपस्थिति तथा अपरिवतनशील सिद्धान्त को मानना पड़ता है तथापि वह परिवतनशील चेतना के व्यावहारिक रूप से प्रमाणित किये जान योग्य तथ्यों से पार कुछ भी नहीं देख पाता, और इस प्रकार अनुभव निरपेक्ष चेतना के 'मूल' का अस्वीकार करने के लिए अपने आपको विवश पाता है। किन्तु उपनिषदों अद्वैतवेदान्त, तथा सांख्य योग के प्रत्ययवादी विचारकों के लिए यह अनुभव निरपेक्ष चेतना सम्पूर्ण अनुभव की रीढ़ तथा मूलाधार है जिसके अभाव म कि किसी प्रकार का भी ज्ञान आंशिक रूप से भी सम्भव नहीं हो सकता है। इस कारण यह जान लेना अत्यन्त महत्वपूर्ण और उपयोगी है कि अनुभव निरपेक्ष या अनुभवातीत चेतना के सिद्धान्त की उपलक्षणायें क्या हैं तथा इस मान्यता से ठीक ठीक क्या और कितना अर्थ प्रयोजित है।

चेतना के अनुभवातीत स्वरूप के इस अध्ययन स एक अन्य महत्वपूर्ण बात भी जुड़ी हुई है और वह है हिन्दू विचारधारा का वह विलक्षण और

१ योगभाष्य २ २०।

२ सांख्य कारिका १६।

जो उसने हमारे जीवन और अस्तित्व के अनुभव निरपेक्ष स्वरूप पर दिया है। इस कारण भी यह अध्ययन अत्यधिक रुचिकर है। हिंदू विचार ने अनुभव निरपेक्षता की धारणा को उसके सुदूरतम परिणाम तक विकसित किया है जिसके कारण कि उसे समग्र अनुभव से विच्छिन्न और पृथक चरम सत्य की भाँति अनुभवातीत चेतना की धारणा उपलब्ध हुई है।

अनुभवातीत चेतना नित्य तथा सर्वव्यापक है

अनुभवातीत चेतना से उस चेतना का अर्थ लिया जाता है जो कि काल में अन्तर्गत परिवर्तित नहीं होती, जो अपरिवर्तनीय है शाश्वत है और वस्तुतः काल की सन्धि में भी अतीत है। वह समय में आबद्ध नहीं है क्योंकि समय स्वयं उसमें ही है। काल सन्धि का अस्तित्व स्वयं चेतना के कारण है क्योंकि चेतना से पृथक् किसी भी प्रकार में समय की कल्पना नहीं की जा सकती है। कोई भी ऐसा समय कभी अस्तित्व में नहीं था और न ही भविष्य में ही ऐसा कोई समय कभी होगा जब उसका अस्तित्व समाप्त हो चुका होगा। वर्तमान चेतना का पूर्वगामी या पश्चातगामी अस्तित्व या अभाव बिना स्वयम् उस चेतना के ही अस्तित्व की उपस्थिति को चुपचाप स्वीकार किये सिद्ध नहीं किया जा सकता है जिसे कि समय के किसी भी बिन्दु पर अस्वीकार करने का प्रयास किया जा रहा है। वह एक नित्य यथार्थ की भाँति अपरिवर्तनीय 'कूटस्थ' रूप से प्रतिष्ठित है तथा सम्पूर्ण परिवर्तनों के साक्षी की भाँति स्वयं परिवर्तित हुए बिना स्थिर रहती है।[1]

वह अरूपान्तरित या कूटस्थ है क्योंकि वह सब रूपान्तरों की साक्षी है।[2] वह नित्य है और नित्यता की धारणा का अर्थ है कि वह काल के तीनों विभाजनों में वर्तमान रहती है (सर्वकाल वर्तमानम्)।

वह आकाश की तरह 'सर्वगम्' और 'विभु' है। वह अनवच्छिन्न है। वह अनन्त या 'भूमा' है। वह असीम है क्योंकि कुछ भी अस्तित्व में नहीं है जो उसे सीमित कर सकता है। काल की दृष्टि से जिस प्रकार ऐसा कोई समय नहीं है जब चेतना नहीं होती, उसी प्रकार प्रसार की दृष्टि से ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ वह नहीं है। वस्तुतः, काल और प्रसार के पदों में उसकी विचारणा केवल उसके कालातीत तथा प्रसारातीत स्वरूप को बुद्धि

---

१ बृहदारण्यक ४ ४ १६ १७, छान्दोग्य ५ ३ कठ० २ १४, ३ १५१२ २२ योगसूत्र ४ १८ २१ इत्यादि।

२ पंचदशीसूत्र। योगभाष्य। २ १८

गम्य बनाने के हेतु ही की जाती है, अन्यथा उसका विचार काल और प्रसार की भाषा में नहीं हो सकता है। वह कालहीन और प्रसारहीन है। काल तथा प्रसार के विभेद स्वय उसके नहीं बल्कि उसके अन्तगत हैं। उसको काल प्रसारिक रूप से सोचना गाड़ी को घोड़ों से आगे बाँधने जसा ही है, क्योंकि काल और प्रसार उसमें हैं और इसलिए ही वह उनमे नही हो सकती है।[1] उपनिषद् कहते हैं कि चूँकि जन्म, जीवन और विलय के समय चेतना को छोड़कर और कुछ भी नहीं होता है, इसलिए चेतना ही सब कुछ है, 'सर्व' है।[2]

वह अकारण है

अनुभवातीत चेतना अकारण है क्योंकि उसके अतिरिक्त जगत् म ऐसा कुछ भी नही है जो उसका पूवगामी हो सकता है। उसके आगे' कुछ भी नहीं है। वह इस कारण 'अज' है। और चूँकि उसके अतिरिक्त और कुछ भी अस्तित्व में नहीं है, इसलिए यह अनुसरित होता है कि वह न सिर्फ कारणहीन अकारण है, बल्कि कायहीन अकाय भी है। वह काल, प्रसार और काय-कारणत्व की मपूर्ण सीमाओं से मुक्त है। वह इन सीमाओं से केवल मुक्त ही नहीं है बल्कि काल, प्रसार और कायकारणत्व की धारणायें उसके अन्तगत क्रियमान होकर ही सार्थक बनती हैं।[3]

ब्रह्म कारण या कार्य से विहीन है और कभी भी किसी वस्तु का काय या कारण नहीं बन सकता है। काय-कारण की सणि का आत्मा पर प्रयोग नहीं हो सकता क्योंकि परम अस्तित्व के दृष्टिबिन्दु से सृजन की क्रिया जैसी कोई वस्तु नही हो सकती। उसकी पूर्ण अनुत्पन्नता अजाति ही एकमात्र सत्य है और हो सकता है। यदि परम् सत्य स्वय अपने में पूर्ण और स्वसतुष्ट, आप्तकाय है तब उसके प्रति सृजन की क्रिया का अभिधेय नहीं किया जा सकता है। अनुभवातीत या पारमार्थिक दृष्टिबिन्दु से सृष्टि का कोई अस्तित्व नहीं है, किन्तु हम सृष्टि को देखते प्रतीत होते हैं क्योंकि हमारी सृष्टि सीमित तथा अज्ञानाच्छन्न है। परम सत्य के दृष्टिबिंदु से सृष्टि के भ्रम की व्याख

---

१ शांकरभाष्य बृहदारण्यक ३ ८ ७ ४ ४ २० २ ४ ६ छान्दोग्य ७ २५ २ ३ १४।

२ ऐतरेय उपनिषद् ५ ३।

३ शांकर भाष्य गौडपाद कारिका ४ १४ २० ४०, बृहदारण्यक ३ ८, ४ ४० २० ५ १६, कथा० २ १४ १८ छांदोग्य ६ ११, ४ ५ ६ १०।

हारिक सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है। सृष्टि की परिकल्पना उसके द्वारा तथा उनके लिए दी गई एक व्याख्या मात्र है जिनके लिए कि सृष्टि एक तथ्य होना ही चाहिये क्योंकि वे अभी तक उस उच्चतर सत्य के दर्शन नहीं कर सके हैं जो कि सृजन के ऊपर है।

आचार्य गौड़पाद के अनुसार आत्मा या आत्मा से उसके स्वयं के अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तु का न कोई 'होना' है और न कोई विकास है और सृष्टि की (क) भोगार्थम या (ख) क्रीडार्थम के रूप में की गई संपूर्ण व्याख्यायें तात्त्विक दृष्टि से असंतोषजनक सिद्ध होती हैं।[१]

सृजन भ्रम के अतिरिक्त और किसी रूप में समझा नहीं जा सकता है। पूर्ण चेतना को इसलिए ही कारणहीन तथा कार्यहीन कहा गया है।

वह एक अविभाजित तथा विभेदहीन एकता है

पूर्ण चेतना में न बाह्य संबंध हैं और न उसमें आंतरिक विभिन्नतायें हैं। उसके ही प्रकार की सजातीय या उससे भिन्न प्रकार की विजातीय कोई वस्तु जगत में नहीं है तथा कोई आंतरिक भेद, 'स्वगतभेद', भी उसमें नहीं है। वृक्ष में पत्तों से उसका सजातीय संबंध तथा अन्य प्रकार के पदार्थों जैसे पत्थरादि, से विजातीय संबंध होता है, किन्तु पूर्ण चेतना के लिए इस तरह की न कोई सजातीय वस्तुएँ हैं और न विजातीय और न ही उसमें कोई स्वगत आंतरिक भेद ही है।[२] वह निर्विषय तथा निराश्रय है और इस कारण पूर्णतया विभेदहीन और अविभिन्न है। चेतना के संपूर्ण विभेद तथा *भिन्नतायें उसकी व्यावहारिक तथा सापेक्ष अभिव्यक्ति से संबंधित* हैं और उसे विशेषित करने वाली स्थितियों तथा उपाधियों की विभिन्नताओं पर निर्भर होती हैं। किन्तु वास्तविक आत्मा इनसे स्वतन्त्र और प्रतीत होती है।

साधारणतः व्यावहारिक चेतना में की चेतना तथा किसी के लिये, चेतना होती है। किन्तु इस तरह का कोई विभेद पूर्ण चेतना में नहीं हो सकता। उसमें अहं चेतना या अहं प्रत्यय के ज्ञान का अस्तित्व भी नहीं होता क्योंकि यह तो बस अविच्छिन्न चेतना का एक पुंज मात्र ही होती है। तथापि वह अचेतन जड़वत' नहीं है बल्कि चेतन स्वभावी 'ज्ञान स्वरूप' है।[३] पूर्ण

---

१ गौड़पादकारिका ६।

२ पंचदशी २०-२१।

३ विवरण प्रमेय संग्रह पृष्ठ ४०।

चेतना म आये सारे विभेद और विभिन्नतायें 'अहकार' के कारण होते है। उदाहरणाय, पूण चेतना अह कार की अवस्थानुसार प्रगाढ निद्रा, स्वप्न तथा जागृति की अवस्थाओं से गुजरती है, वह निद्रा म होती है जबकि अहकार स्वप्न या जाग्रति म होता है। प्रगाढ निद्रावस्था में विभेद का कोई बोध या चेतना नही रहती, क्योंकि उस अवस्था मे अह कार की पूण या आंशिक क्रियाशीलता के अनुसार का अध या पूर्ण विभद शेष रहता है।[१]

अविभदी चेतना ठीक उसी प्रकार अविभेद प्रतीत होती है जिस प्रकार कि प्रकाश', 'आकाश तथा सूय उन्ह सीमित करने वाले विशेषण अगुलि, घट तथा जलादि विषयो के द्वारा सविभेद प्रतीत होते हैं।[२]

द्वतता, जोकि गलतरूप से चेतना का निश्य लक्षण प्रस्तावित की गई है केवल 'मनस्' की क्रियात्मकता के कारण अस्तित्व में होती है।[३] अद्वत चेतना विभेदित नही होती। इसमे किसी प्रकार का वभिन्य नही है। और जो उसमें वभिन्य को देखता है, मृत्यु से मृत्यु को भटकता रहता है'।[४]

वह अप्रभावित, 'असग' तथा 'केवल' है

शुद्ध चेतना शुभ अशुभ, तथा सुख और दु ख के अनुभवों से नितांत अप्रभावित रहती है, क्योंकि वह अनुभवों की भोक्ता नहीं, बल्कि उनके पृथक एक द्रष्टा की भाँति उसका अस्तित्व होता है। इच्छा और अभिलाषा, सुख और दु ख की भावनायें उसका स्पश नहीं करती हैं, क्योंकि वे उसका अश नही होती हैं।

अपूर्णतायें तथा उनक परिणामस्वरूप उत्पन्न दुर्गति तथा असुख, सांतता तथा सीमाओं के स्तर से सबधित होते हैं जोकि 'जीव' का स्तर है, पूण चेतना का नहा। पूर्ण या विशुद्ध चेतना वस्तुत सुख या दुख की सभावनाओं से अप्रभावित होती है किन्तु वह अपने ऊपर शारीरिक तथा मानसिक समूह की सीमाओं का आरोपित कर लेती है। इस आरोपण के बाद वह अपने का सुखी या दुखी की भांति विचारती है। वह वस्तुत उस बुद्धि के समग्र सीमित करने वाल विशेषणों से स्वतन्त्र होती है जिनके प्रभाव में कि वह

१ दृग्दृश्यविवेक १०।

२ शाकर भाष्य ३ २ २५।

३ गौडपादकारिका ३ ३१ तथा योग वशिष्ठ।

४ बृहदारण्यक ४ ४ १९।

अनुभवकर्ता, भोक्ता या किसी भी कर्म का कर्ता नहीं हो सकता है।[१] यह किसी भी भौतिक, भावात्मक या मानसिक वस्तु से पूर्णतया असंपृक्त है। उसका किसी से भी किसी प्रकार का कोई सीधा संबंध नहीं है।[२] संबंध, मिश्रण, या संसर्ग अपवित्रता का एक कारण होता है। अनुभव निरपेक्ष चेतना पूर्णरूपेण पवित्र तथा शुद्ध है और इस कारण वह पृथकता की अपनी अमिश्रित पवित्रता में ही सदा अवस्थित रहती है।[३]

उपनिषद् कहते हैं कि पुरुष असंबंधित या असंग है 'असंगोऽयम् पुरुष वह उसी रूप से एकाकी है जैसे कि म्यान से बाहर खींच ली गई तलवार होती है। योग का आदेश है कि केवली पुरुष स्वयं अपने आपमें यद्यपि शुद्ध तथा अगम्य है किन्तु वह भी अपने से पर से संसर्ग करने के कारण उसी भाँति कलंकित तथा सदोष हो जाता है जिस भाँति की पवित्र जल अन्य पदार्थों के संसर्ग के कारण अशुद्ध हो जाता है।

वेदांतानुसार ब्रह्म का स्वभाव पूर्णरूपेण असंग है और हिन्दू प्रत्ययवाद में इस प्रकार की चेतना ही वह एकमात्र वस्तु है जोकि वास्तविकरूप से यथार्थ है तथा जिसकी सत्ता को पारमार्थिक माना गया है। इस अनुभवातीत चेतना से विपरीत व्यावहारिक चेतना की सत्ता है जिसका कि स्वरूप ही विभेद, अन्तर-संघर्षों और परिवर्तनों जन्य है। व्यावहारिक चेतना की सत्ता परनिर्भर तथा सापेक्ष है। व्यावहारिक चेतना की सत्ता को पूर्णतया अस्वीकृत नहीं किया गया है। जो कुछ प्रतिवादित किया गया है वह यह है कि व्यावहारिक चेतना का अस्तित्व सापेक्ष है तथा अनुभवातीत या पारमार्थिक चेतना की उस आधारभूत यथार्थता के कारण है, जो कि स्वयं अपनी बारी में, किन्हीं अन्य स्थितियों पर आधारित या निर्भर है। चेतना के इन दो स्तरों के संबंध में यथार्थवादी तथा प्रत्ययवादी के दृष्टिकोण के एक विभेद को याद रखना यहाँ महत्वपूर्ण है। जबकि यथार्थवादी अनुभवातीत तथा निरपेक्ष चेतना से पूर्णतया इन्कार करता है वहीं प्रत्ययवादी व्यावहारिक चेतना के पूर्णत्व से ही केवल इन्कार करता है। प्रत्ययवादी ने व्यावहारिक चेतना को पूर्णतया कभी भी अस्वीकृत नहीं किया है।

---

१ योग भाष्य २।१८।

२ बृहदारण्यक २।१८, ४।३।७ ३।१२६।

३ योगभाष्य २७।

यह बिल्कुल भी आश्चर्यजनक नहीं है कि 'यथार्थ के यथार्थ' या 'सत्यस्य सत्यम' के यथार्थ से बहुधा तीव्ररूप से इस कारणवश अस्वीकार किया जाता है कि वह ज्ञेयता तथा प्रमाण के सामान्य नियमों के प्रति उत्तरदायी नहीं' है। तथापि अनुभवातीत चेतना के अस्तित्व के लिए उपलब्ध एकमात्र प्रमाण स्वयं व्यावहारिक चेतना में निहित पूर्वप्रस्तावनाओं के आविष्कार पर ही निर्भर हो सकता है। यह प्रतीत होता है कि प्रमाण की इस अपरोक्ष प्रणाली की प्रामाणिकता तथा कार्यकारिता को पर्याप्त रूप से स्वीकार नहीं किया गया है। किसी तथ्य के अस्तित्व में जो कुछ भी पूर्वप्रस्तावित होता है, चाहे उसे प्रत्यक्षरूप से कभी भी प्रमाणित न किया जा सके वह उतना ही निश्चितरूप से यथार्थ होता है जितना कि वह तथ्य यथार्थ होता है जो कि उसे पूर्वप्रस्तावित करता है। इस कारण, चेतना के अनुभव निरपेक्ष स्वभाव में विश्वास करने के हेतु 'समाधि' या प्रज्ञाज्ञान की बुद्धि अतीत अपरोक्षानुभूति के अतिरिक्त जो युक्तियाँ हैं वे तर्कज्ञान मीमांसात्मक ही हैं। और अनुभवनिरपेक्ष चेतना को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत किये जाने योग्य एकमात्र प्रमाण प्रागनुभव नियमन के स्वरूप का ही हो सकता है। ज्ञान-घटना की सम्भावना के विश्लेषण से एक सततरूप से वर्तमान तथा स्थायी चेतना का स्वयंसिद्ध सिद्धांत अनुसरित होता है, जिसका संगतिपूर्ण अस्वीकार अनिवार्यतः भौतिकवाद या अज्ञेयवाद के दो अवांछनीय विकल्प की ओर ही ले जा सकता है जिनमें से कोई भी ज्ञान तथा चेतना की समस्या का हल प्रस्तुत करने में समर्थ नहीं हैं।

निरपेक्ष का बौद्धिक ज्ञान

हम पहले ही कह चुके है कि अनुभव निरपेक्ष चेतना को उसकी पूर्णता में हमारी तार्किक बुद्धि से, विचार की उसकी किसी भी यौक्तिक सरणियों के द्वारा, नहीं समझा जा सकता। इस अर्थ मे यह शब्द तथा वचन से अतीत है। हमने यह भी प्रतिपादित किया है कि जो कुछ हमारी बुद्धि तथा तर्क की सीमाओं के पार अवशिष्ट रह जाता है वह उसी प्रकार अनिवार्यतः अननुभूत नहीं होता जिस प्रकार असीम आकाश अज्ञात नहीं है यद्यपि प्रत्यक्ष की किसी भी एकाकी क्रिया में वह पूर्णतया गृहीत नहीं बनता है। वह केवल तार्किक या सापेक्ष रूप से ही अज्ञात है क्योंकि पूर्ण चेतना तार्किक या 'सापेक्ष' नहीं होती और इस कारण हो केवल तार्किक रूप से उसे समझने के हमारे सारे प्रयास आवश्यक रूप से असफल हो जाते हैं। इस कारण उसका श्रेष्ठतम वर्णन केवल नकारात्मक रूप से उसके लिए उन सारे विशेषणों

के अस्वीकार से ही होता है, जो कि साधारणतः अन्य विषयों के लिए प्रयुक्त किये जाते हैं।

नकारात्मकता की यह प्रणाली ईसाई विचारधारा के इतिहास में भी अज्ञात नहीं है। 'वह क्या नहीं है' यह हमें इससे कहीं स्पष्टतर है कि 'वह क्या है।' और यह भी कि उस तक 'नकारात्मकता के अतिरिक्त और किसी रूप से नहीं पहुँचा जा सकता है। परम विषयी को हम अपने एकाकी या सामूहिक अभिधेय के द्वारा प्रदीप्त नहीं कर सकते। हमारा कोई भी विशेषण उसके साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सकता और इसलिए उसका नकारात्मक वर्णन केवल प्रतीकों के द्वारा ही श्रेष्ठ रूप से हो सकता है। इसमें भी यह विस्मृत नहीं करना चाहिये कि इन प्रतीकों के द्वारा जो कि विषयों के वर्णन में ही प्रहण किये जाते हैं, उसकी एक सतोषजनकरूप से स्पष्ट धारणा ही हमें हो पाती है जोकि स्वरूपतः परम् एवं पूर्ण चेतना को पूर्णरूप से बुद्धि के ग्रहण योग्य बनाती है।

इस स्थल पर यह सहज ही पूछा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में फिर अनुभवातीत चेतना की कोई तत्वमीमांसा क्या सभव हो सकती है? इसके उत्तर में हम यह पुनरुक्ति ही कर सकते हैं कि निरपेक्ष पूर्ण, यद्यपि तार्किक दृष्टि से स्वरूपतः परिभाषा के योग्य नहीं है, तथापि हम उसकी सत्ता सम्यक् प्रमाणत है और उसका ज्ञान इस परिभाषा तथा वर्णना के अतिरिक्त अन्य साधना से प्राप्त कर सकते हैं। यह भी उचित ही है कि हम 'ब्रह्म' का सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, क्योंकि सुनिश्चित ज्ञान केवल उन विषयों का ही सभव हो सकता है जोकि एक दूसरे से विभेदित किये जा सकते हैं। वस्तुओं और घटादि की परिभाषा की जा सकती है क्योंकि वे सीमित और सुनिर्धारित होते हैं, अन्य वस्तुओं से पृथक किये जा सकते हैं, और अपने से भिन्न वस्तुओं से सबंधित भी होते हैं।[१] किन्तु जो सुनिर्धारित नहीं है उसका ज्ञान भी अन्य वस्तुओं से पृथक करके नहीं किया जा सकता है। ब्रह्म इस अर्थ में ही पूर्ण' अज्ञेय है। उसके नकारात्मक वर्णन का प्रयोजन केवल उसके लिए उन सपूर्ण संज्ञियों का अस्वीकार करना है जोकि मूलतः विषयों के लिए व्यवहृत होती हैं। यह नकारात्मक वर्णन प्रत्येक वस्तु की सत्ता को पूर्णरूप से अस्वीकृत नहीं करता है किन्तु ब्रह्म के अतिरिक्त अवश्य ही प्रत्येक वस्तु को अस्वीकार करता है।[२] यह भी कहा गया है कि ब्रह्म का आदर्श

---

१ बृहदारण्यक २ ३ २। शांकर भाष्य।
२ तथा ३ शांकरभाष्य ३ २ २२।

नही होता। इस कारण नही कि वह है नहीं, बल्कि इस कारण कि वह प्रत्येक उस वस्तु और विषय का जिसका कि प्रत्यक्ष होता है, और हो सकता है, स्वय ही प्रत्यक्षकर्ता है।

अध्यारोप की प्रणाली

किन्तु यदि अनुभवातीत चेतना का अस्तित्व है तो विवेचनात्मक विचारणा की आवश्यकताओं के साथ उसके अस्तित्व का समायोजन और समाधान होना जरूरी है और इस समाधान के हेतु अद्वैत वेदात अपनी अध्यारोप या मिथ्यारोपण की धारणा के द्वारा प्रयास करता है। इस सिद्धांत का अर्थ है कि यद्यपि शुद्ध चेतना अनिर्वचनीय है तथापि अध्यारोप की प्रणाली के द्वारा उसका तादात्म्य इस प्रकार के सुनिर्धारित विषयो जसे शरीर प्राण, मनस्, अहकारादि से क्रमश किया जा सकता है, और तब इनमे से प्रत्येक को उस समय तक अपनी अपनी बारी पर 'यह नही' की तरह अस्वीकृत किया जा सकता है। जबतक कि यह प्रक्रिया विवेचनात्मक बुद्धि को अपनी सीमाओ के पार जाने म तथा उसे वह समझा देने म जोकि किसी व्यावहारिक विषय की भाँति नहीं है सहायक नहीं होता है। ब्रह्म के सबध की स्थिति ठीक उसी प्रकार है जिस प्रकार कि जब शाही सेना दृष्टिगोचर होती है तब छत्र, पताकायें तथा अन्य शाही प्रतीक राजा की उपस्थिति की ओर इगित करते हैं जो कि स्वय नहीं होता और दशक जनता यह कहना प्रारंभ कर देती है कि राजा उपस्थित है चाहे वह उन्हें दृष्टिगोचर न भी हो रहा हो'।[१]

अनुभवी [निकारात्मक शास्त्र] द्वारा उपस्थित 'अध्यारोप' या आलकारिक आरोपण की यह प्रणाली निरपेक्ष पूर्ण की ओर इगित करने के लिए एकमात्र उपलब्ध साधन है जोकि अपनी पूर्णता में सापेक्ष बुद्धि के लिए स्वरूपत अग्राह्य है और जिसके लिए निकटतम पहुँच प्रगाढ़ निद्रा की अवस्था में पाई जाती है।[२] अध्यारोप की प्रणाली बहिर्गर के 'जसे कि दर्शन की भाँति कुछ है जो कि पूर्ण चतना के वर्णन के लिए एकमात्र ढग है। इस प्रणाली को पहले ग बृहदारण्यक (४ ३ ७) म 'वह न सोचता है न गतिमय होता है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है जसे कि वह सोचता है जसे कि वह गतिमय होता है', की भाँति प्रस्तुत किया गया है।[३]

१ शांकरभाष्य छांदोग्य ७ १ ३, गीता १३ १३, शांकरभाष्य १ १ १२।
२ शांकरभाष्य १ १ ४।
३ बृहदारण्यक ४ ३ ७।

यद्यपि ब्रह्म का वर्णन उसके ऊपर अध्यारोपित बुद्धि तथा आनन्द के पदों में नाम, रूप तथा कर्म के साधनों द्वारा किया जाता है तथापि जब हम सीमित करने वाले विशेषणों के कारण उत्पन्न संपूर्ण विभेदों से स्वतन्त्र और अतीत उसके सत्-स्वरूप की विवेचना की इच्छा करते हैं तब ज्ञात होता है कि इन विशेषणों में बद्ध करके उसे नहीं जाना जा सकता है। और इसलिए इस स्थिति में 'उसके उन संपूर्ण संभव विशेषणों के लोप द्वारा, जिन्हें कि कोई उस पर आरोपित कर और जान सकता है उसके वर्णन का केवल एक ही 'यह नहीं' का नकारात्मक मार्ग रह जाता है।[1]

अनुभवातीत चेतना और परिभाषा

पूर्ण चेतना को बहुधा ही ससीम तथा विषयगत चेतना के साथ भ्रांतिवश एक ही समझ लिया जाता है क्योंकि भाषा के व्याकरणात्मक रूपों ने, जिनमें कि हमें अपने विचारों को अभिव्यक्त करना होता है, इस धारणा को प्रोत्साहित किया है कि यह कुर्सी या बेंच के प्रकार की कोई वस्तु है। किन्तु शुद्ध चेतना, वहाँ तक जहाँ तक कि यह संपूर्ण ज्ञेय विषयों की पूर्वप्रस्थापना है उस प्रकार परिभाषित नहीं की जा सकती। परिभाषा करने के हेतु उसे किसी श्रेष्ठतर वर्ग के अन्तर्गत लाना तथा उसी वर्ग से संबंधित अन्य वस्तुओं से भिन्न करना आवश्यक है। किन्तु यह इस वक्तव्य का स्पष्टरूप से विरोध होगा कि यह ज्ञान की परम पूर्वप्रस्थापना है तथा श्रेष्ठतम वर्ग भी है। एक बार जहाँ यह स्वीकृत कर लिया गया कि आत्मा स्वयम्भू है, तब यह स्वीकार करना भी आवश्यक हो जाता है कि साधारणरूप से उसकी परिभाषा नहीं की जा सकती। इसके साथ ही, परिभाषा की प्रक्रिया को भी स्वयं कुछ ऐसी वस्तु में समाप्त होना चाहिए जिसकी कि परिभाषा नहीं हो सकती, अन्यथा फिर प्रक्रिया का अन्त कभी हो ही नहीं सकता। इस कारण चेतना की तरह के पद की परिभाषा में 'नाम परिवर्तन के स्वांग के अन्तर्गत केवल तादात्म्यक वक्तव्य हो प्राप्त हो सकते हैं। शुद्ध चेतना को परिभाषित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह परिभाषा-योग्य वस्तुओं से मथवा अन्य (अन्यदेव) है। इस स्थल पर हमारी यह पुनरुक्ति आवश्यक नहीं कि इस तथ्य से कि शुद्ध चेतना परिभाषित नहीं हो सकती है हमें यह निश्चित नहीं करना चाहिये कि वह अज्ञात है। इस प्रकार का निश्चय अनुमानित करना उसी प्रकार अविवेकपूर्ण होगा जिस प्रकार कि 'उस व्यक्ति की गलती अविवेकपूर्ण होती है जो कि

---

[1] बृहदारण्यक २ ३ ६ ३ ६ २८, २४ १२।

अपने साथियों को तो गिन लेता है पर स्वयं की गणना करना भूल जाता है।[१] यह कहा जा सकता है कि पूर्ण चेतना यद्यपि परिभाष्य है तथापि उसका अस्तित्व पूर्ण रूप से बुद्धिगम्य है।

सत्, चित तथा आनन्द के विशेषण उसकी परिभाषा नही करते क्योंकि वह कोई सात वस्तु नहीं है। ये केवल उसका निर्देश मात्र करते हैं।[२] चेतना की परम एकता को एक अपरिभाष्य सार्वभौम वस्तु होना ही चाहिये क्योंकि 'शब्द केवल विषयात्मक जगत की विपरीत यथार्थताओं को ही विशेषित करते हैं'।[३] और चूँकि पूर्ण चेतना का कोई भी विपरीत सत्य नहीं है, इसलिए उसका नामांकन या उसकी परिभाषा नहीं हो सकती है।

पूर्ण चेतना के अस्वीकार में, अज्ञेयवादी बौद्धों अनुभववादी नैयायिकों तथा रामानुज की भांति छद्म प्रत्ययवादियों की एक सामान्य मान्यता है कि प्रत्येक वस्तु जो कि हमारे लिए यथार्थ है उसे आवश्यकरूप से या तो सुनिश्चित, निर्धारित तथा परिभाषा योग्य होना चाहिये या फिर शुद्ध 'कुछ नहीं' होना चाहिये।[४] यह प्रस्तावित करना स्पष्ट ही भ्रांतिपूर्ण है कि जो कुछ भी अस्तित्व में है, वह घटादि की ही तरह इन्द्रियों के माध्यम से ही देखे जाने योग्य हैं तथा जो कुछ इस तरह प्रत्यक्ष नही होता यह खरगोश के सींगों की भांति है। 'परम चेतना स्वयं जिसके समक्ष कि संपूर्ण पदार्थ उपस्थित होते हैं अर्थहीन नहीं हो सकती, यद्यपि यह सत्य है कि किसी सीमित पदार्थ या विषय की भाँति उसकी परिभाषा संभव नहीं है।[५] चेतना अनिदम है, वह 'इदम' की भांति ही ग्राह्य बन सकती है। एक ज्ञान अन्य ज्ञानों से सह संबंधित होने के कारण विभेदित तथा परिभाषित किया जा सकता है किन्तु ज्ञानों की आधारभूत चेतना, जोकि अपने से बाह्य किसी वस्तु से संबंधित नहीं की जा सकती उसी रूप से प्रभावित नहीं हो सकती।

चेतना अपने आप में अद्वितीय और अनन्त है और अद्वितीय तथा अनन्त सत्य ज्ञेय नहीं हो सकता क्योंकि उसे जानने का अर्थ उसे किसी अन्य वस्तु से विभेदित करना है। यह भलीभांति ज्ञात है कि अनन्त को विभाजित नहीं किया जा सकता और इसीलिए पूर्ण चेतना को जोकि अनन्त है, ज्ञाता ज्ञान तथा ज्ञेय

---

१ तैत्तिरीय शांकरभाष्य।
२ तैत्तिरीय, शांकरभाष्य।
३ छांदोग्य शांकरभाष्य ६ २ १।
४ रामानुज भाष्य १ १ १ पृ॰ २८।
५ दी नेचर आफ सेल्फ ए॰ सी॰ मुखर्जी पृष्ठ २८१।

विषय के रूप में विभक्त करना उसके अनन्त स्वरूप को हानि [illegible] चेतना या तो अनन्त ही हो सकती है या फिर विभाजित हो सकती। दोनो बातें एक ही साथ सम्भव नहीं हैं।

अनुभवातीत चेतना तथा भाषा

अनुभव का हमारा विश्लेषण भाषा के उन व्याकरणात्मक रूपों से, कि हम अपने विचारों को अभिव्यक्त करते हैं, बहुधा प्रभावित हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ कि अस्तित्व के सत् रूपों को भाषा के रूपों [illegible] सादृश्य समझा और प्रस्तावित किया गया है, जबकि इस प्रकार का [illegible] सादृश्यता या अनुरूपता अस्तित्व में नहीं है। इस कारण, भाषा की [illegible] विकल्प वृत्ति के विपरीत हमारा सचेत होना अत्यन्त आवश्यक है। [illegible] नात्मक समझ जोकि बुद्धि अन्तःकरण या विज्ञान के विविध नामों से [illegible] पित की गई है हमें केवल व्यावहारिक रूप से वर्णनीय तथा व्याख्यानीय आत्मा ही प्रदान करती है। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि इस प्रकार जो आत्मा हमें प्राप्त होती है, वह वास्तविक आत्मा की प्रतिछाया मात्र होती है, स्वयं वास्तविक आत्मा नहीं।

विशुद्धात्मा भाषा के जिस रूप में अभिव्यक्त की जाती है वह वही रूप नहीं है जिसमें कि यह अस्तित्व में होती है। दार्शनिक विचारणा में भाषात्मक रूप या शब्दों की शक्ति (शब्द माहात्म्य) अपनी विकल्प वृत्ति से जो भ्रांति पैदा कर देती है, उसका विचार योगभाष्य (१ ६) में किया गया है। योग भाष्य ने इस भ्रांति की परिभाषा इस प्रकार की है 'वस्तुशून्यत्वेपि शब्दज्ञान माहात्म्यनिबन्धन व्यवहार'।[1] जिसका अर्थ है कि सम्बन्धित तत्व की अनुपस्थिति में भाषात्मक ज्ञान की शक्ति उसके मानसिक रूपान्तरों को पैदा कर देती है। भाषा के व्याकरणात्मक रूप हमें बहुधा उन तत्वों में विभाग करने के लिए मार्ग भ्रष्ट करते हैं जोकि उस रूप में कहीं भी अस्तित्व में नहीं होते हैं। व्यास, 'चेतना आत्मा का सत् स्वरूप है' या 'तीर रुका हुआ है' के समान कुछ लोकप्रिय उदाहरणों का उल्लेख देते हैं जिन्हें कि सावधानी तथा आवश्यक रूपान्तर के साथ ही समझा जाना चाहिए। इस प्रकार, जब हम कहते हैं कि 'चेतना आत्मा का सत् स्वरूप है', तो हम उसी रूप में सोच रहे हैं जिस तरह की हम धन से सम्बन्धित किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में सोचते हैं, जोकि पूर्णरूपेण भ्रांति पूर्ण होगा। इस प्रकार की भूल भ्रान्ति का उपचार [illegible]

---

1 योगभाष्य २ १ ७।

संकेत स्मृति परिशुद्धि' बताया गया है जिसका अर्थ भाषात्मक संयोग की स्मृति से मन का शुद्ध करना है, जिसके पश्चात् ही 'निर्विकल्प' या विशुद्ध अविभेदी ज्ञान का उदय होता है।

अनुभवातीत चेतना और प्रमाण

चेतना एक स्वयं सिद्ध सत्य है। यह सत्य सम्पूर्ण प्रमाण-अप्रमाण के द्वारा पूर्वप्रस्तावित है तथा तार्किक खण्डन या मण्डन के क्षेत्र से समानरूपेण अतीत है। इस सम्बन्ध में भी वह किसी भी अन्य विषय से पूर्णतया भिन्न है। ज्ञान के सपूर्ण अन्य विषय अपनी प्रस्थापना के हेतु प्रमाणों पर निर्भर होते हैं, किन्तु हमारी आधारभूत चेतना प्रमाण के सामान्य नियमों और साधनों पर निर्भर नहीं हो सकती क्योंकि वह स्वयंसिद्ध है। वह 'प्रमाण निरपेक्ष' है।

चेतना का यह स्वयंसिद्ध स्वभाव उसके स्वतः प्रकाशत्व से अनुसरित होता है। उसकी प्रस्थापना के हेतु प्रमाण बिल्कुल ही अयोग्य और सामर्थ्यहीन है, क्योंकि प्रमाणों, साक्षी के अन्य साधनो, तथा प्रामाणिकता की धारणा को ही स्वयं स्वप्रकाशी चेतना के द्वारा प्रमाणित होना पड़ता है। 'त्रिक हृदय' में यह कहा गया है कि चेतना को पकड़ने की मनःस्थिति ठीक उस व्यक्ति जैसी ही है जो अपने सिर की छाया को पर से छूने के लिए कहता है किन्तु पाता है कि उसके परों के वहाँ तक पहुँचने के पूर्व ही छाया आगे हट जाती है। चेतना समग्र ज्ञान का आधार है किन्तु वह स्वयं एक ग्राहक है तथा अन्य किसी भी वस्तु के द्वारा ग्रहण के योग्य नहीं है। चेतना प्रमाण की प्रक्रिया का मूलाधार (मूलाश्रय) है और यह प्रमाण की प्रक्रिया के पूर्व ही सिद्ध है।[1] किसी वस्तु के मूल स्वरूप का नहीं बल्कि केवल सांयोगिक या सापेक्षिक स्वभाव का ही खण्डन किया जा सकता है, और जो सब प्रमाणों के द्वारा पूर्व प्रस्तावित है उसे उन्हीं प्रमाणों से प्रमाणित नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उस आधार को प्रमाण के द्वारा कसे प्रस्थापित किया जा सकता है जिसके ऊपर कि स्वयं प्रमाण अपनी प्रक्रिया तथा अस्तित्व के लिए निर्भर होता है।[2]

अनुभवातीत चेतना की आलोचना

(१) रामानुज हमने देखा है कि उपनिषद्, साख्य-योग और शकर वेदान्त के अनुसार चेतना नित्य पूर्णरूप से अपरिवर्तनशील तथा विशुद्धरूप

१ खण्डन खण्डखाद्य।

२ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ २०।

से अविभेद चिन् है जोकि सवज्ञान तथा ज्ञेय के विभेदों से भी मुक्त और अतीत है। किन्तु अनुभवातीत चेतना का यह सिद्धान्त अपने प्रबल एवं दृढ़ आलोचकों से रहित नहीं है। रामानुज, उदाहरणस्वरूप, निम्नाधारों पर इस प्रकार की चेतना का अस्वीकार करते हैं

प्रथमत, यह कि किसी अविभेदी द्रव्य का कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि 'सर्वचेतना भेद को उपलक्षित करती है तथा चेतना की सर्वावस्थाओं में अपने विषयों के प्रति ऐसा भाव निहित होता है जोकि भेद को सूचित करता है जैसा कि 'मैंने यह देखा' के निर्णय में प्रगट है।[१] प्रगाढ़ निद्रा में भी चेतना विभेद से प्रभावित होती है।[२]

हमने विगत अध्याय में पूर्व ही अविभेदी चेतना की रामानुजीय आलोचना पर विचार कर लिया है। किन्तु इसके पूर्व कि हम चेतना की नित्यता के सम्बन्ध में उनके द्वितीय आक्षेप और आलोचना पर आते हैं यह महत्वपूर्ण सुझाव और भी प्रस्तावित किया जा सकता है कि नित्य अनन्त की सोपाधि आत्मा का जन्म 'नित्य द्रष्टा' और उसके द्रव्य विषयों के विपरीत स्वभावों के मध्य विभेद न कर सकने की असफलता के कारण ही होता है।[३] अहन्ता का मिथ्या भाव केवल उस समय तक ही शेष रहता है, जब तक कि व्यावहारिक अनुभव की सत्ता रहती है। यह भाव 'असम्प्रज्ञात समाधि में विलीन हो जाता है जहाँ कि आत्मा अपने स्वयं के बोध-स्वरूप में अहन्ता या विभेद के सम्पूर्ण भावों से रहित अस्तित्व में होती है। इस कारण, स्वतन्त्र व्यक्तित्व की कल्पना सापेक्ष है और अपने सत्य स्वरूप के दर्शन के प्रयास में अन्तत उससे मुक्त होना आवश्यक है। वाचस्पति मिश्र ने ठीक ही कहा है कि उस समय जबकि सम्पूर्ण सापेक्ष परिस्थितियाँ अस्तित्वरहित हो गई हैं निरपेक्ष चेतना से अस्वीकार करना नितान्त गलत है क्योंकि उस स्थिति में केवल वही अस्तित्व में हो सकती है।[४] स्फटिक उस समय भी अपनी विशुद्ध पारदर्शिता में विद्यमान रहता है, जबकि रंगीन फूलों का उपाधि दूर कर लिया गया होता है। चेतना के अनुभवातीत और अनुभवाश्रित रूपों का भेद, सापेक्ष ज्ञान तथा निरपेक्ष ज्ञान, या अन्यान्तरित चेतना तथा उसके रूपान्तरों के मध्य के भेद

---

१ रामानुज भाष्य १ १ १ पृ० २० ।

२ योग सूत्र २ ६ ।

३ योग सूत्र १ २ ।

४ रामानुज भाष्य १ १ १ पृ० २२ ।

पर आधारित है। रामानुज के लिए यदि चेतना का अर्थ चेतना की परिवर्तित हुई विषयवस्तु ही है (जैसा करने की वह सदव ही प्रतीत होते हैं) तब अनुभवातीत चेतना की उनकी सम्पूर्ण आलोचना सत्य है, अन्यथा उनकी सारी आलोचना विषय से दूर है, क्योंकि वह किंचित भी नित्य चेतना की आलोचना नही है। चेतना विषयवस्तु तथा 'रूप' के अपने दुहरे पर्शो से विभेदित तथा अविभेदित होती ही है। चेतना का स्वरूप सविभेद नहीं कहा जा सकता है क्योंकि 'प्रसार काल या रूप की विभिन्नता के कारण ही एक चेतना की दूसरी चेतना से भिन्न धारणा नही की जा सकती है।'[१]

इसके बाद हम उनकी द्वितीय आलोचना पर विचार करते हैं जिससे चेतना की नित्यता की अस्वीकृति के हेतु रामानुज ने दो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। प्रथमत, कि यदि चेतना नित्य होती तो वह अनुभव में भी उसी रूप में प्रगट होती और उसी भाँति उसका ज्ञान भी होता किन्तु चूँकि इस प्रकार नही होता है इसलिए उसे नित्य नहीं माना जा सकता है। इस कारण, समग्र ज्ञान केवल अस्थायी ही होता है।[२] चेतना के नित्य स्वभाव के अनादर के हेतु, रामानुज चेतना की परिवर्तित होती अवस्थाओं के मूर्त तथा विशिष्ट अनुभवों के प्रति हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। चेतना की नित्यता का ऐंद्रिक ज्ञान की किसी क्रिया मे निश्चय ही प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता है। इन्द्रिया नुभूतिवादियो की स्थिति को अप्रमाणित करने के हेतु हम यहाँ प्रागनुभववादी की सुज्ञात युक्तियों की पुनरुक्ति आवश्यक नहीं समझते। यह कहना ही पर्याप्त है कि चेतना की नित्यता तथा अपरिवर्तनशील आत्मा के कारण स्वय ज्ञान की सम्भावना के तथ्य में ही निहित है। और इस कारण यह समझ पाना कठिन है कि रामानुज की कोटि का दार्शनिक किस प्रकार नित्य रूप से वर्तमान चेतना की आवश्यकता को नही देख सका और आधारभूत चेतना तथा उस चेतना की विषय वस्तु के मध्य भ्रान्ति कर सका।

चेतना की नित्यता के विपरीत रामानुज का दूसरी युक्ति बहुधा सदर्भित इस प्रत्ययवादी सिद्धान्त पर आक्रमण म निहित है कि 'चेतना के अस्तित्व का सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि चेतना का पूर्वगामी अनस्तित्व स्वय चेतना को ही पूर्व प्रस्तावित करता है जिसका अर्थ है कि चेतना नित्य है।' रामानुज इसके प्रत्युत्तर म कहते हैं कि 'इस प्रकार का कोई नियम नहीं है कि चेतना का पूर्वगामी अनस्तित्व, यदि सिद्ध कर दिया जाता है तो उस चेतना के साथ समसामयिक होना ही चाहिए'[३] क्योंकि स्वयं विरोधी के मतानुसार

---

१ शिवसूत्र विमर्शिनि, सूत्र १ टीका।

२ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ २६।

३ रामानुज भाष्य १ १ १ पृष्ठ २९।

अनुभवातीत चेतना और आनन्द

अनुभवातीत चेतना के स्वरूप पर और भी प्रकाश डालने के हेतु आत्मा की मुक्तावस्था के स्वभाव के सम्बन्ध में खोज पड़ताल करना आवश्यक है। जीव मुक्ति की परमावस्था के सम्बन्ध में यह दो सिद्धान्त—धनात्मक तथा ऋणात्मक—हमारे समक्ष हैं। धनात्मक सिद्धान्त, जो कि वेदान्त द्वारा ब्रह्म के स्वरूप की भाँति आनन्द पर दिये गये जोर के कारण लोकप्रिय बन गया है कहता है कि परम् यथार्थ केवल चित्-स्वरूप ही नहीं है, बल्कि 'चित्' और आनन्द एक ही है।[1]

वेदान्त दृष्टिकोण

इस दृष्टि के अनुसार मुक्ति की अवस्था आनन्द या भोग की नकारात्मक अवस्था है और इस परम लक्ष्य की ओर मनुष्य की क्रमिक उन्नितदशा आनन्द की क्रमिक ऊर्ध्वगामी श्रेणी द्वारा चिह्नित होती है। 'सत्, चित्' और अनन्त' ये विशेषण 'आनन्द' से तादात्म्यक् है। अनन्त, अक्षय तथा निरपेक्ष होना ही परम आनन्द और निर्वाण है। सीमितता और द्वैत भय और दुःख है।[2] असीम जो है वह आनन्द है (यो वै भूमा तत् सुखम्)।[3]

वेदान्त दर्शन की युक्ति यह है कि आत्मा मुक्तावस्था में या तो चेतन होती है या अचेतन होती है। इन दो विकल्पों के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। यह यदि अचेतन होती तो यह किसी ठोस शिलाखण्ड की भाँति सुख-दुःख के अनुभव की सामर्थ्य से नितान्त हीन होती और उस स्थिति में पत्थर के एक टुकड़े में और उसमें कोई विभेद नहीं किया जा सकता था। इस कारण, वेदान्त का आग्रह है कि हम चेतना को आत्मा से स्वरूपतः ही सम्बन्धित मानना चाहिये। इन्द्रियों के द्वारा जब चेतना को बाहर की ओर खींच लिया जाता है तो सांसारिक तथा क्षणिक भोग का अनुभव होता है। किन्तु जब इन्द्रियाँ अपना कामकलाप बन्द कर देती हैं, तब चेतना स्वयं आत्मा में विलीन हो जाती है और स्थायी, अनन्त और निरंतर आनन्द का भोग करती है।

इस परमावस्था को, उसकी हो एक नकारात्मक धारणा से विभेद करने के हेतु आनन्द कहा जाता है जो कि सुख की किसी स्वीकारात्मक उपस्थिति

---

१ भामती।

२ तैत्तिरीय उपनिषद् २ ७ ८, २१ ३ ८ ६, छान्दोग्य उप० ७ २३ १ बृहदारण्यक ३ ६ २८ ४ ३ ३० ३२।

३ छान्दोग्य उप० ७ २३ १ ७ २४ १।

की नहीं बल्कि केवल दुखाभाव या कष्ट मुक्ति की धारणा को ही अभिव्यक्त करती है। जिस भाँति अस्तित्व और चेतना (सत् और चित्) एक है, उसी भाँति चेतना और आनन्द (चित् और आनन्द) भी एक हैं। आत्मा की परमावस्था का सत् की अवस्था होना आवश्यक है और दुखाभाव की नकारात्मक धारणा भी केवल उस समय ही सार्थक हो सकती है जब कि कुछ सकरात्मक या धनात्मक भी शेष रह जाता है। आनन्द, इस कारण एक स्वीकरात्मक पद है जो कि शुद्ध चित् की शान्त और स्थिर अवस्था का प्रतीक है जिसमें कि किसी भी प्रकार की गति या क्रिया के अस्तित्व की सम्भावना नहीं है जो दुःख का कारण होती है। कश्मीरी शववाद के अनुसार भी शुद्ध चेतना आनन्द से तादात्म्यक है क्योंकि वह बिना किसी भाव या गति के बोध मात्र है।[१]

आत्मा की मुक्तावस्था के इस धनात्मक दृष्टिकोण का न्याय वशेषिक तथा सांख्य के ऋणात्मक सिद्धान्तों के द्वारा विरोध किया गया है। न्याय-वशेषिक तथा सांख्य दोनों ही इस सम्बन्ध मे पूर्णतया सहमत हैं कि आत्मा की परमावस्था केवल 'दुःख' के पूर्ण नकार की अवस्था है और न कि किसी धनात्मक अनुभव की।

वेदान्त दृष्टिकोण की योग आलोचना

विज्ञानभिक्षु अपने 'योग सार सग्रह' म परम चेतना की वेदान्त धारणा की आलोचना करते हैं और बताते हैं कि वदान्त का दृष्टिकोण इस प्रकार की श्रुतियों के भी विरुद्ध पडता है जसे कि 'जो ज्ञान को प्राप्त कर लेता है वह सुख और दुःख का त्याग कर देता है,'[१] या 'भौतिक शरीर से जो विहीन है, सुख और दुख उसका स्पर्श नहीं करते हैं।' मुक्ति या तो धनात्मक उत्पत्ति है और इस प्रकार नश्वर है या फिर वह नित्यधर्मा है और उस स्थिति में सदय एव उपलब्ध तथ्य है न कि उपलब्ध करने के लिए एक लक्ष्य। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि आत्मा का प्रयोजन केवल अपने अज्ञान को दूर करने में ही निहित है, क्योंकि 'मनुष्य का लक्ष्य सदव ही किसी सुखानुभूति की उपलब्धि का होता है'[२] न कि किसी वस्तु को दूर करने मात्र में ही। यदि यह कहा जाता है कि ब्रह्म पर माया के द्वारा आवरण पड जाता है और मुक्ति इस आवरण के हटाव म निहित है तब चेतना का, जो कि किसी से पराजित और आच्छादित हो जाती है, नित्य नहीं माना जा सकता है।

---

१ अभिनवगुप्त तन्त्रलोक।
२ १, कठ० उप० २ १२ या छान्दोग्य उप० ८ १२ १।

इस प्रकार 'मोक्ष' केवल दु ख का अन्त है और उसे आनन्द पुकार कर मन्द बुद्धिवाले मनुष्यों से ही उसकी प्रशसा की जाती है।[१] आनन्द की प्राप्ति मुक्ति है।

न्याय आलोचना

श्रीधर भी अपने ग्रन्थ 'न्याय कन्दली' में प्राय वेदान्त दृष्टिकोण की इसी तरह की आलोचनाएँ प्रस्तुत करते हैं और कहते हैं कि परम चेतना का आनन्द से तादात्म्य करनेवाला सिद्धान्त अन्य विकल्पों की परीक्षा को सहन नहीं कर सकता है। वह पूछते हैं कि क्या मुक्तावस्था म आनन्द का वस्तुत अनुभव होता है, या नहीं? यदि उसका अनुभव नहीं होता है तब अस्तित्ववान होते हुए भी वह इस कारण अनस्थिरत्ववान के समान ही है क्योंकि वह भोग-योग्य नहीं है। और यदि उसका अनुभव होता है तो शरीर तथा इन्द्रियों के अभाव मे इस अनुभव के लिए उपकरण कहाँ हैं? आत्मा का कर्म तथा भावना से निहित होना चाहिये क्योंकि कर्म तथा भावना पौद्‌गलिकता को निर्दिष्ट करते हैं।[२] पुन आत्मा के नित्यानन्द को, जो कि उससे स्वरूपत सम्बन्धित है, सासारिक अवस्था मे बिना उसके सत् स्वरूप को हानि पहुँचाये हुए, उससे विलग नहीं किया जा सकता है। आत्मा या तो इस आनन्द का सदैव ही धारण करती है और उस स्थिति में उसकी उपलब्धि की कोई आवश्यकता नहीं है या फिर कुछ भी उसे पदा नहीं कर सकता है। इस भाँति आत्मा के लिए नित्यानन्द जसी कोई वस्तु नहीं है और अत आनन्दानुभूति मुक्तावस्था की विधायक स्थिति नहीं हो सकती है। 'हमें, इस कारण, मुक्तावस्था को आत्मा की स्वयं की मौलिक अवस्था के जीवन में निहित मानना चाहिये जो कि ससारावस्था से सम्बन्धित समग्र विशिष्ट उपाधियो क अन्त द्वारा चिन्हित होती है।[३]

अद्वैत प्रत्युत्तर

न्याय और योग आलोचनाओं का अद्वैत वेदान्त का प्रत्युत्तर यह है कि इस वक्तव्य से कि परम चेतना आनन्दस्वरूप है, यह अर्थ कदापि गृहीत नहीं है कि उस अवस्था मे पौद्‌गलिक अर्थों में आनन्द का कोई भोग होता है जिसमे कि शरीर और इन्द्रियों की सहायता तथा उपकरणात्मकता या अनुभव

१ योगसार सग्रह ४।
२ सांख्य सूत्र ५ ६८।
३ न्यायकदली पृष्ठ २८६ २८७।

के लिए आवश्यकरूप से अपेक्षित विषयी और विषय का द्वैत सन्निहित होता है। उसका अर्थ यह है कि परम चेतना अचेतना और व्यावहारिक चेतना दोनों से भिन्न और विपरीत आनन्द के स्वरूप की है, अर्थात् अनुभवाश्रित चेतना के क्षोभ और क्रियात्मकता के विपरीत, जिसमें कि सुखानुभूति सन्निहित होती है, वह अक्षुब्ध और 'शान्त' है। धनात्मक और ऋणात्मक या अभावात्मक और नकारात्मक अनुभव के मध्य भेद बनाये रखने के हेतु ही उसे स्वीकृत किया जाता है। नकार या अस्वीकार किसी अभाव का स्वीकार ही है। 'सत् आनन्द है' का अर्थ है कि वह दुःख के ऋणात्मक स्वभाव का नहीं है बल्कि धनात्मक स्वरूप का है क्योंकि सत् के प्रति अस्वीकार तार्किक रूप से अन्तिम शब्द नहीं हो सकता है। इसके साथ ही, अस्वीकारवादी की मान्यता के अनुरूप यदि परम मुक्ति केवल दुःखरहितता का ऋणात्मक अवस्था ही है, तो कोई भी दुःखी व्यक्ति अपने को मुक्त अनुभव कर सकता है, क्योंकि उस स्थिति में भी अन्य सम्भाव्य दुःखों का अभाव होता है।[१] इस तथ्य का उसके द्वारा अस्वीकार यह सिद्ध करता है कि वह परमावस्था को एक धनात्मक अवस्था की भाँति अभिलाषा करता है क्योंकि एक अस्वीकार दूसरे अस्वीकार से भिन्न नहीं हो सकता। पुनः, दुःखरहितता का नकारात्मक सिद्धान्त परमावस्था की प्राप्ति में सुख की श्रेणियों की स्वीकृति के सिद्धान्त के विपरीत है, क्योंकि जो अस्तित्व में ही नहीं है उसे निश्चय ही वर्गीकृत नहीं किया जा सकता है। यदि यह स्वीकृत किया जाता है कि अनुभव की चरमावस्था विशुद्ध चेतना की अवस्था है तब यह निष्कर्ष भी हम पर अनिवार्यतः आ पड़ता है कि उसे आवश्यकरूप से आनन्द के स्वरूप का ही होना चाहिये क्योंकि अन्य रूप से उसे विशेषित नहीं किया जा सकता है।

परमावस्था में आनन्द तथा चेतना में किसी प्रकार का भेद खोज सकना असम्भव है। दुःखाभाव या दुःखरहितता की ऋणात्मक अवस्था भी तर्कसंगत धारणा उसे धनात्मक अवस्था तक ले जाये बिना करना सम्भव नहीं है। आनन्द इस धनात्मक धारणा का ही दूसरा नाम है। किन्तु हमें यह पुनः दोहरा देना चाहिये कि यह भी पूर्ण चेतना का पूर्ण या सत्य वर्णन नहीं है। यह उच्चतम सत्य को केवल श्रेष्ठतम सम्भवनीय ढंग से अभिव्यक्त करता है। यह कहना अर्थहीन है कि मुक्त व्यक्ति आत्मा को आनन्द की भाँति जानता है क्योंकि वह या तो अपने आनन्द को सावरोध और सान्तराल से जानता है या निरवरोध रूप से निरन्तर ही जानता रहता है और दोनों

१ न्याय कन्दली, पृष्ठ २८७।

ही स्थितियों मे एक कठिनाई है क्योंकि पहली स्थिति में कहने से कोई प्रयोजन पूरा नहीं होता है तथा दूसरी स्थिति में ब्रह्म परिवर्तनमय हो जाता है। अतएव, श्रुतियों की व्याख्या ब्रह्म के स्वरूप-निर्धारण की भाँति करनी होगी न कि इस निर्देश की तरह कि आत्मा को आनन्द का ज्ञान या बोध होता है।[१] यह अविचारणीय है कि शुद्ध चेतना ने आनन्द का अथ एक अनुभवयोग्य या भोगयोग्य आनन्द होता है क्योंकि आनन्द, ब्रह्म का जिसमें न खंडांश हैं और न गुण है, न गुणी है और न कोई खण्ड। वह केवल एक अवर्णनीय और परिपूर्ण सत्ता है एक और अनन्त जिसके सम्बन्ध में किन्हीं अन्य पदों की अपेक्षा 'सच्चिदानन्द' के पद में ही सोचना उचित और श्रेष्ठ है।[२]

स्वीकारवादी अद्वैत तथा अस्वीकारवादी न्याय और सांख्य दोनों ही किसी रूप में इस मान्यता में सहमत हैं कि परमावस्था, शुद्धता गुणविहीनता तथा सांसारिक अवस्थाओं के पूर्ण नकार की अवस्था है। वह स्वयं अपने में क्या है, यह अवर्णनीय है, क्योंकि परमावस्था अनिर्वचनीय है, तथा आनन्द की भाँति उसका वर्णन विवेचनात्मक मनस् के लिए उसकी एक सन्तोषजनक धारणा के हेतु एक सहायता मात्र से अधिक नहीं है। आनन्द की तरह उसकी धारणा उसे समझने के हेतु ही है वह उसका वर्णन कदापि नही है।

अनुभवातीत चेतना तथा क्रियात्मकता

द्वैतवादी सांख्य तथा अद्वैतवादी वेदान्त दोनों के ही अनुसार, अनुभवातीत चेतना, जो कि नित्य तथा अपरिवर्तित रूप से अस्तित्व में रही है, अक्रिय अकर्त्ता है। सांख्ययोग में गति, क्रियात्मकता तथा परिवर्तन का सिद्धान्त 'प्रधान' से उद्भूत होता है, और 'पुरुष' शुद्ध तथा अनासक्त होने के कारण सदैव अपरिवर्तित और स्वयं से तादात्म्यक ही बना रहता है। अद्वैत वेदान्त में, आत्मा पूर्ण या निरपेक्ष है और इसलिए विकास, परिवर्तन या वृद्धि मे अक्षम है। वह न बढ़ती है और न घटती है।[३] शंकर आत्मा के लिए क्रियात्मकता से इन्कार करते हैं क्योंकि क्रिया स्वरूपतः ही अनित्य अध्रुव' है। आत्मा कर्म का आवास नहीं हो सकती है क्योंकि कर्म

१ बृहदारण्यक ३ ९ २८ शांकरभाष्य।

२ पचादशी ११ २३।

३ बृहदारण्यक ४ ४ २३।

जहाँ भी और जिसमे भी रहता है। उसे रूपान्तरित किये बिना नहीं रह सकता है।[१] सम्पूर्ण क्रियात्मकता अहता के भाव को पूर्व प्रस्तावित करती है तथा इच्छा द्वारा उत्प्रेरित होती है।[२]

इसके साथ ही क्रियात्मकता की धारणा में सीमा की धारणा भी सन्निहित होती है। आत्मा से शरीर तथा अन्य उपकरणों से सीमित हुए बिना, किसी प्रकार का कर्तव्य नहीं हो सकता है। अनुभवातीत चेतना में तो क्रिया हो ही नहीं सकती क्योंकि क्रिया से चेतना महत्तर है। अनुभवातीत चेतना में कोई गति नहीं है। इस कारण, क्रिया अक्रिय चेतना से, सक्रिय उपाधियों से उसके ससर्ग के कारण, केवल प्रतीत मात्र होती है कि सम्बन्ध है। परिवर्तन तथा क्रिया की धारणा चरम धारणा नहीं हो सकती है, क्योंकि क्रिया स्वयं किसी के द्वारा प्रत्यक्ष तथा किसी अपरिवर्तनशील चेतना के समक्ष प्रदर्शित होती है। परम चेतना को जब कभी भी क्रिया या विकास से विभूषित किया जाता है तो वह वृत्ति तथा 'बोध' के मध्य भ्रान्ति के कारण हो पाता है। यह 'वृत्ति' है जो परिवर्तित होती है वृद्धि पाती है, तथा विकसित होती है। जब कि 'बोध' अपरिवर्तित सतत तथा स्थायी बना रहता है। मानसिक परिवर्तन चेतना के नहीं, चेतना में परिवर्तन है और मनस् का विकास 'चित् शक्ति' का विकास नहीं है। विकास की धारणा में यह तथ्य सन्निहित है कि विकासमान वस्तु की विभिन्न अवस्थाओं को काल की विभिन्न अवधियों में व्याप्त होना चाहिये। किन्तु विशुद्ध चित् में, यदि उसमें कोई 'पूर्व' या 'पश्चात्' नहीं है तो, कोई विकास सम्भव नहीं हो सकता है।

नित्य द्रष्टा', उस सीमा तक जहाँ तक वह परिवर्तनशील जगत को जानता है, स्वयं उसका एक अंश नहीं हो सकता। और यही कारण है कि सांख्य दर्शन ने विश्व को अकृत 'पुरुष' तथा विकासमान 'प्रकृति' के दो भागों में विभाजित किया है। परम चेतना को अननुक्रमी द्रष्टा, परिवर्तनशील मनस् के प्रवाही रूपान्तरों का, 'अक्रम दृक्' होना ही चाहिये। यदि साक्षी आत्मा स्वयं परिवर्तित हो जाती है, तब मन के परिवर्तित होते रूपान्तरों के किसी ज्ञान का उद्भव कभी भी नहीं हो सकता है। परम चेतना काल के अतीत वर्तमान तथा भविष्य के विभाजन से परे है और अतएव यह अपरिवर्तनशील और नित्य है।[३] नित्य चेतना, अपने स्वरूप में, 'अकान्त'

१ शांकरभाष्य १ १ ४।
२ शांकरभाष्य २ ३ ४०।
३ न्यायसूत्र २ ६६ ७७।

भौर अक्षर' है [1] किस प्रकार घुमाये जाने पर लुआठी (जलती हुई लकडी) सीधी भौर वक्र, प्रतीत होने लगती है, उसी प्रकार चेतना भी है। जब कभी भी विशुद्ध चेतना को कर्त्ता की तरह पुकारा जाता है, तो वैसा केवल अलकारिक रूप से ही किया जाता है। [2] परम चेतना ज्ञाता भी नहीं है भौर केवल ज्ञानमीमासात्मक रूप से ही उसे इस प्रकार को सज्ञा दी जाती है। क्योंकि ज्ञान-व्यापार मे भी ज्ञान की क्रिया अन्तर्भावित है जो कि परिवतन भौर रूपान्तर के अन्तगत है। इसी प्रकार से वह कर्ता भी नहीं है तथा दु ख या सुख से प्रभावित भी नहीं होता है भौर केवल नीतिशास्त्रीय रूप से ही इसे उस प्रकार विचारा जाता है। [3] इस प्रकार परिवतन के सम्पूर्ण गुण चेतना से उसके वास्तविक रूप मे नहीं, बल्कि उसके ससीम विशेषणों वाले पहलू से ही सम्बन्धित होते हैं। [4]

इस दृष्टिकोण की आलोचनायें कि 'चेतना सदैव परिवतनशील है

विज्ञानवाद के अनुसार, परिवतनशील ज्ञानों की असख्य शृंखलायें ही केवल अस्तित्व में हैं जिनमें से प्रत्येक क्षणिक है तथा स्वय अपना पृथक अस्तित्व रखती है। इन ज्ञानों के बीच के विभेद उनसे स्वरूपत ही सम्बन्धित हैं तथा विषयों के विभेद के कारण नहीं हैं। क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार किसी वास्तविक रूप में विषयो का कोई अस्तित्व नहीं है। [5] चेतना का यह दृष्टिकोण अपरिवर्तनशील तथा स्थायी रूप से वतमान चेतना के हमारे सिद्धान्त के विपरीत पडता है। परिवर्तनशील चेतना के इस सिद्धान्त के समथकों का विश्वास है कि इन परिवतनो का निर्धारण काय-कारण के सिद्धान्त के अनुसार होता है। किन्तु यह देख पाना अत्यन्त कठिन है कि दृश्य जगत की सतत परिवर्तित होती हुई धारा का सिद्धान्त, उसके काय-कारण द्वारा निर्धारण के सिद्धान्त से अविरुद्ध या सगत कसे हो सकता है? क्योंकि जसी कि शकर की युक्ति है कि स्थायी कारण का अस्वीकार अपरिहाय रूप से इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि वस्तु अवस्तु

---

१ गौडपादकारिका ४ ४५ ४७ ५१ ५२।

२ शाकर भाष्य २ ३ ४०।

३ *भगवद्गीता* १८ १७। यस्य नाहकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते हत्वापि स इमाल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।

४ शाकर भाष्य २ १ १४। जिसमे अहकार भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि मलिन नहीं है वह जगत को मारते हुए भी नहीं मारता न बन्धन में पडता है।

५ विवरण प्रेमय सग्रह पृष्ठ ८२।

(प्रभावाद् भावोत्पत्ति) से उत्पन्न होती है। इस प्रकार से तो कोई भी वस्तु किसी भी वस्तु से पदा हो सकती है तथा 'खरगोश के सींगों' से भी अंकुर निकल सकता है।[१]

इसके साथ ही, सतत् रूप से परिवर्तनशील चेतना स्मृति तथा प्रत्यभिज्ञ को नितान्त असम्भव बना देती है क्योंकि व्यक्तिगत तादात्म्यकता तथा स्व प्रत्यभिज्ञ की हमारी चेतना के अस्तित्व के लिए एक स्थायी रूप से वर्तमान सिद्धान्त पूर्व से ही अपेक्षित है। बौद्ध विज्ञानवादी तथा अन्य अनुभववादी दार्श निकों ने हमारी चेतना में एक स्थायी और अपरिवर्तनशील सिद्धान्त के अस्तित्व से इन्कार किया है तथा स्मृति और प्रत्यभिज्ञ की घटना की 'सम रूपता' की परिकल्पना द्वारा व्याख्या करने की कोशिश की है। किन्तु सम रूपता' या 'सादृश्य' तो 'तादात्म्यकता' नहीं है और 'सादृश्यता' को भी कम से कम सादृश्यता के प्रत्यक्षीकरण के दो क्षणों में पूरे समय एक अपरिवर्तनीय सिद्धान्त को पूर्व प्रस्तावित करना आवश्यक है।[२] यह प्रस्तावित करना भूल है कि तादात्म्यकता का विचार सादृश्यता के द्वारा ही किया जाता है (साद श्यात् प्रत्यभिज्ञानाम्) क्योंकि जब कभी भी इस प्रकार के सिद्धान्त की विचारणा की गई है तब सदैव ही एक स्थायी सिद्धांत भी पूर्व प्रस्तावित किया गया है।[३] क्षणिकवाद के सिद्धान्त को क्षणिक वस्तुओं से भी नहीं बल्कि स्थायी वस्तुओं के दृष्टान्तों से समझाया गया है। सादृश्यता का निर्णय दो वस्तुओं पर आधारित होता है तथा एक विषयी को भी अपने में अपरिहार्य रूप से समाविष्ट करता है जो कि उन दो वस्तुओं के सादृश्य का ग्राहक और निर्णायक होता है। क्षणिकवादी को या तो क्षणिकवाद के अपने सिद्धान्त को छोड़ कर एक विषयी को स्वीकार कर लेना चाहिए जो कम से कम दो क्षण तक अस्तित्व में रहता है या फिर वह सादृश्यता के निर्णय की व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि, कम से कम दो क्षण तक स्थायी रूप से अस्तित्ववान एक विषयी के अभाव में, दो वस्तुओं को सदृश्य वस्तुओं की भांति कौन ग्रहण करेगा और कौन निर्णय देगा? यह स्पष्ट है कि चेतन क्षणों के क्रम की चेतना सम्भव नहीं हो सकता है यदि चेतना स्वयं ही उस क्रम की एक सदस्या है।

---

१ शांकरभाष्य २ २ २६।

२ शांकरभाष्य २ २ २५।

३ बृहदारण्यक ४ ३ ७।

चेतना मे परिवर्तन, परिवर्तन की चेतना की व्याख्या नहीं कर सकते। जो कुछ भी हमारे ज्ञान का विषय है वह हमारे मन की अवस्थाओं से परिणत हो जाता है और जबकि कोई न कोई वस्तु सदैव निरन्तर रूप से ज्ञान बनती ही रहती है, तब यह ज्ञान का जगत् है, न कि ज्ञान, जो कि सदा परिवर्तन के चक्र में होता है। आत्मा स्वयं, जिसके समक्ष कि संपूर्ण विषय अर्थ ग्रहण करते हैं, विभाजित और परिवर्तशील नही है। इसलिए एक अपरिवर्तनशील आत्मा की धारणा के अभाव म प्रत्यभिज्ञा तथा स्मृति की व्याख्या करना असंभव है क्योंकि यदि आत्मा स्वयं रूपांतरों से गुजरती है, तो मनस् वस्तुओं के रूपांतरों का उसके रूपांतरों के रूप में कौन जानता है या जान सकता है।[1] तादात्म्य तथा एक सूत्रता की धारणाओं को मनस वस्तु की 'सन्तान' के सिद्धान्त म, जो कि क्षणिक तथा एक सूत्रबद्धता से हीन है स्थानांतरित नही किया जा सकता, क्योंकि या तो एक सूत्रता के अभाव मे किसी प्रकार का अनुभव ही अस्तित्व म नहीं होगा या फिर एकता की धारणा पूर्व प्रस्तावित होगी और उसके लिए स्थान भी पूर्व निर्धारित होगा।[2] दो विचार, जो कि समय के दो विभिन्न क्षणों में व्याप्त होते हैं तथा उसी क्षण अस्तित्व के बाहर हो जाते हैं। जिस क्षण कि चेतना के विषय बनते हैं, न तो एक दूसरे को जान सकते हैं और न ही चेतना के एक अपरिवर्तनशीलरूप से उपस्थित सिद्धान्त के स्वीकार के अभाव मे किसी और रूप में जाने जा सकते हैं।

क्रियात्मकता लीला के रूप मे

क्रियात्मकता दो प्रकार की होती है। एक जो आवश्यकता, सांतता तथा किसी लक्षण के लिये हेतु से उद्भूत होती है, तथा दूसरी जिसका उद्भव अभाव या सांतता में नहीं बल्कि अनन्त के वैभव तथा समृद्धि में होता है और जो किसी प्रयोजन या लक्ष्य की उपलब्धि के हेतु नहीं होती।

इस दूसरे प्रकार की क्रियात्मकता को कलात्मक नृत्य जैसी क्रियाओं के द्वारा समझा जा सकता है। नृत्य की गतिमयता चलने की सप्रयोजन क्रिया से इस अर्थ म भिन्न है कि उसमें उपलब्धि के हेतु कोई लक्ष्य नहीं है और न ही पहुँचने को कोई गन्तव्य है। जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र के हेतु नृत्य आवश्यक नहीं है। यह जीवनाभिरुचि के आधिक्य का स्वेच्छ खेल है और उसका क्रीडा के आनंद के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं

---

१ योगसूत्र ४ १२।
२ योगभाष्य १ ३२।

है। सप्रयोजन क्रिया तथा निष्प्रयोजन लीला के मध्य विभेद था यह एक दृष्टांत मात्र है। यदि दोनों के मध्य के विभेद को हम थोडा और ऊँचा उठायें तो हम क्रमश यह दिखना शुरू हो जाता है कि क्रीडा की क्रिया या लीला अधिक सत्यतर और वास्तविक है तथा उसी क्रम से कलात्मक क्रिया तथा व्यावहारिक अक्रिया के मध्य का भेद भी न्यूनतम होता जाता है। चेतना की परमावस्था मे क्रिया तथा अक्रिया की धारणायें मिलती और एक बनती हैं। परम चेतन सिद्धान्त की उच्चतम क्रिया जागतिक खेल या लीला है जोकि व्यावहारिक दृष्टिकोण से अक्रिया की भाँति विचारी जा सकती है। नृत्य जितना ही अधिक कलात्मक होता है क्रिया उतनी ही कम सप्रयोजन और सोपयोगी होती है, अर्थात्, उस प्रकार की क्रिया सब-व्यावहारिक प्रयोजनो के लिए अक्रिया ही है। ईश्वर की क्रिया को उच्छ्वास भीतर तथा बाहर ले जाने या राजकुमारों की क्रियाओं की भाँति क्रीडा की क्रिया मात्र ही कहा जा सकता है।[१] राजकुमारो की क्रियायें उनकी सक्रियता की अक्रियता ही बताती हैं क्योंकि वे कुछ प्राप्त करने को सक्रिय नहीं होते हैं। उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सब कुछ उन्हें उपलब्ध होता है किन्तु फिर भी वे अपनी शक्ति आधिक्य के अनुपात म अपने आपको खेल में संलग्न करते हैं। नित्य तथा अनत चेतना की अनतता तथा शक्ति आधिक्य तो और भी बहुत अधिक और असीम है। इस शक्ति आधिक्य के कारण ही जगत की अभिव्यक्ति की क्रिया म वह लीला की भाँति संलग्न होती है जिसे कि व्यावहारिक दृष्टिबिन्दु से अक्रियता पुकारना उचित ही है।

साख्ययोग का द्वैतवादी तथा वेदांत का अद्वैतवादी दर्शन दोना, क्रिया तथा परिवर्तन की धारणा को, विशुद्ध अनुभवातीत तथा परम चेतना से भिन्न जोकि अक्रिय (उदासीन) तथा अपरिवर्तनशील (कूटस्थ) है, किसी अन्य सिद्धान्त से सम्बन्धित बताते हैं। संपूर्ण परिवर्तन विकास तथा क्रिया जो जगत म देखी जाती है, वह या तो गतिमयता के एक पृथक् तथा स्वतंत्र तथ्य म कारण है जोकि परिवर्तन की विषय वस्तु प्रस्तुत करता है, (जैसे कि साख्ययोग म 'प्रकृति') या सार्वभौम अज्ञान के कारण है जो कि अपरिवर्तनशील चेतना पर परिवर्तन तथा सीमित करने वाले विशेषणों के स्वरूप को आरोपित करता है। जैसे कि अद्वैत वेदांत म 'अविद्या' या 'माया'।[२]

---

१ शाबरभाष्य २ १ ३३।

२ गौडपादकारिका ४ १।

सप्तम् अध्याय

चेतना तथा अचेतना

समस्या कथन

दर्शन की प्रत्येक प्रणाली में, 'विचार' तथा 'प्रपच' के संबंध का प्रश्न किसी न किसी रूप मे उपस्थित हुआ ही है। द्वैतात्मक तत्यमीमांसा में चेतना और अचेतना के जगतों के मध्य सेतु बाँधना एक नित्य समस्या है। इस तरह की तत्वमीमांसा मे चेतना और अचेतना के मध्य की खाड़ी को पहले से ही अधिकतम कर लिया गया होता है। अद्वैतवाद मे (किसी भी रूप के यथार्थवादी या प्रत्ययवादी) यह प्रश्न अचेतना तत्व से चेतना के उद्भव के रूप में या इसके विपरीत अचेतना तत्व से चेतना के उद्भव के रूप म अपने आपको प्रस्तुत करता है। कूटस्थ चित् की एक विभेदहीन राशि, जोकि विशुद्ध रूप है तथा स्वय म अनुभव की अस्थिरताओं तथा वभिन्य से संगठित नहीं है, किस प्रकार स्वय अपने को अपने से विरोधी, परिवतनशील तथा अचेतन पदार्थ म विभाजित कर सकती है? आत्मा अपने अनुभवातीत रूप में शुद्ध *'ज्ञ' और अक्रिय तथा अपने भावात्मक, मानसिक, और शारीरिक विशेषणों* से समग्रतया विछिन्न है किन्तु अपने अनुभवाश्रित रूप म 'हृत', देही या 'जीव' के नामों के अन्तर्गत वह भोक्ता है। आत्मा की यह द्वि रूपात्मक धारणा यदि अधिक प्राचीन नहीं तो कम से कम कठोपनिषद् के बराबर पुरानी तो है ही।[1] दर्शन के इतिहास म 'पुरुष' की शुद्ध 'चिन्मात्र' की धारणा ने जोकि पौद्गालिक तत्वों के संस्पर्श मे उसी भाँति सक्षम है जिस भाँति कि मुक्तावस्था में पृथक अस्तित्व के लिए, एक विशाल समस्या को खड़ा कर दिया है। यह केवली और अनासक्त पुरुष, ज्ञान तथा भोग की क्षमता का व्यावहारिक अभिनय पूरा करने के हेतु मानसिक तथा शारीरिक विशेषणों से अपने आपका कैसे संयुक्त कर सकता है? द्वैतात्मक परिकल्पना के अनुसार 'प्रकृति' एक पौदगालिक तथा अचेतन सिद्धान्त है जबकि आत्मायें या 'पुरुष' सचेतन किन्तु अक्रिय एव तटस्थ सिद्धान्त है। इस स्थल पर यह

---

1 कठ० उप० ३ ४।

प्रश्न स्वाभाविक है कि ये दोनों सिद्धान्त एक दूसरे के सास्पर्श म कसे आ सकते हैं ? दो पूर्णतया विरोधी तथा विपरीत स्वभावी वस्तुयें स्वय के स्वरूपो को खोये बिना किसी भी प्रकार के पारस्परिक सम्बन्ध में प्रविष्ट नहीं हो सकती। सम्बन्ध की धारणा में मिलन की उभय भूमि भी नहीं है। जबकि यथार्थ के अद्वयवादी आकलन म चित् मे अन्य किसी अचतन सिद्धान्त के लिए कोई सन्तोषजनक स्थान दिया गया प्रतीत नही होता है जिसके साथ कि चेतन सिद्धान्त के सम्बन्ध की कोई सम्भावना हो सकती। सब द्वैतवादी आकलन के अनुसार, जहाँ कि दोनो सिद्धान्तो को पूर्ण से ही स्थान प्राप्त है, उसके सम्बन्धो की असम्भावना के रूप मे समस्या अपने आपको उपस्थित करती है।

इस प्रकार अद्वयवादी तथा द्वयवादी दोनो गणनाओ को विचारान्तर्गत लेत हुये, अचेतना और चेतना के सिद्धान्तों के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रति, तीन विभिन्न दृष्टिकोणों को सूत्रबद्ध किया जा सकता है।

प्रथम, कि चेतना अकेली ही अस्तित्व में है तथा अचेतन जसी कोई वस्तु जगत में नहीं है।

द्वितीय, कि चेतना तथा अचेतना के सिद्धान्त दोनो ही स्वतन्त्ररूप से अस्तित्व में हैं।

तथा तृतीय कि चेतना की तरह की कोई वस्तु अस्तित्व में नहीं है और केवल अचेतन सिद्धान्त ही अस्तित्ववान है।

इन तीनो दृष्टिकोणो मे से केवल प्रथम दो वेदान्त के अद्वतवादी प्रत्ययवाद तथा सांख्य योग के अद्वतवादी प्रत्ययवाद का परीक्षण ही केवल हमारे लिए यहाँ आवश्यक है। पौद्गलिक अद्वतवाद क तृतीय विकल्प का विचार पहले ही किया जा चुका है।[१]

अद्वैतवादी दृष्टिकोण

हमने देखा है कि इस दृष्टिकोण के अनुसार चेतना एक जटिल वस्तु नहीं है जिसे कि सरलतर वस्तुओं में विनिष्ट किया जा सकता है। यह एक ऐसी आधारभूत तथा अविश्लेषण योग्य वस्तु है कि अचेतना की किसी नकरात्मक शक्ति के द्वारा उसकी विपरीतता नहीं हो सकती। इस दृष्टिकोण का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि 'अचेतना का कोई अस्तित्व नहीं है।' सम्पूर्ण

१ तृतीय अध्याय।

शिव विचार का पूर्ण सिद्धान्त यह नहीं है। सवज्ञ के लिए पत्थर उतनी ही बीजात्मक चेतन वस्तु है जिस तरह की मनुष्य, यद्यपि वह अपनी सम्भवनीय चेतना के क्षितिज को विस्तृत करने म समय होते हुए भी अभी तक एक अचेतन वस्तु ही बना हुआ है। मनुष्य स अधिक चेतन प्राणी के दृष्टिबिन्दु से मनुष्य भी उसी प्रकार अचेतन होगा जिस प्रकार कि उसके दृष्टिबिन्दु से पत्थर अचेतन है। पत्थर भी अपनी अदृष्ट' सम्भावनाओं के अनुसार ज्ञाता तथा भोक्ता है। विश्व के अन्य भागों से चेतना को अस्वीकृत करना, इस कारण, हमारे अज्ञान के कारण ही सम्भव होता है। चेतना तथा अचेतना के प्रति हमारा सामान्य दृष्टि, जो कि केवल विशिष्टीकृत चेतना मात्र को ही चेतना मानता है, तथा सीमान्त और सीमान्तातीत चेतना को अचेतना की भाँति देखता है, इस प्रकार का दृष्टिकोण है जो कि केवल उसको ही देखता है जो कि व्यावहारिक जीवन में उपयोगितापूर्ण प्रतीत होता है। किन्तु इसका यह अथ कदापि नहीं है कि व्यावहारातीत या पारमार्थिक चेतना का कोई अस्तित्व नहीं है, जो कि वस्तुत सवव्यावहारिक चेतना का मूलभूत आधार है। इसके विपरीत, वास्तविक वस्तुस्थिति कहीं अधिक यह है कि यह अविशिष्टीकृत चेतना ही है जो कि अकेली ही एक निर्विभेद उपस्थिति की भाँति अस्तित्व में होती है।

इस स्थल पर यह पूछा जा सकता है कि यदि अकेली चेतना ही अस्तित्व है तब वह अपने आपको विभाजित या अचेतना के स्वरूप म स्वय अपने ही प्रतिवाद का सृजन किस भाँति करती है, क्योंकि विषयी तथा विषय क द्वैत के अभाव मे या अचेतन वस्तु की चेतन वस्तु के साथ एकता के बिना किसी प्रकार का कोई अनुभव सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रश्न का अद्वैत समाधान या उत्तर यह है कि वस्तुत: अनुभव का कोई अस्तित्व ही नहीं है, और उसकी प्रतीति भिन्न कारणों में से किसी एक दूसरे के कारण होती है।

सम्बन्ध के सम्बन्ध मे अद्वैतवादी सिद्धान्त

(१) प्रतिफलन सिद्धान्त या 'बिम्ब प्रतिबिम्बवाद'।

(२) परिमितता या अवच्छेदवाद'।

(३) मायावाद' या अविवेक सिद्धान्त, जिसके अनुसार विशुद्ध चेतना वस्तुत बिना परिमित या प्रतिफलित हुए, अपने सत स्वरूप के अबोध के कारण भ्रान्तिवश अपने आपको अचेतन या जड़ मान लेती है।

(१) प्रतिफलन सिद्धान्त के अनुसार, अनुभवनिरपेक्ष चेतना, जो कि सर्वव्यापक है अचेतन बुद्धि में प्रतिफलित होती है जो कि उसके निकटतम है तथा अपनी शुद्धता एवं उस प्रकार की क्षमता के कारण, उसके प्रतिबिम्ब को पकड़ने में समर्थ है। विशुद्ध चित् भूल से उसके सीमित तथा प्रतिफलन करने वाले विशेषणों के विभिन्न रूपों के साथ उसी प्रकार अपना तादात्म्य कर लेता है जिस प्रकार कि चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल के सतत परिवर्तित होते रूपों का अनुसरण करता है।[1] जिस प्रकार कि जल में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा जल के हिलने डुलने के कारण हिलता डुलता हुआ प्रतीत प्रतीत होता है, या जिस भाँति की स्फटिक अपने निकट पदार्थ का रंग ग्रहण कर लेता है तथा पदार्थ के रंगानुसार कभी लाल और कभी हरा प्रतीत होता है और यद्यपि स्वयं अपने आप में वस्तुतः न तो चन्द्रमा हिलता है और न स्फटिक ही रंगीन होता है उसी प्रकार ब्रह्म भी जिसका स्वरूप कि विशुद्ध तथा विभेद हीन चेतना का है, अपनी 'उपाधियों' के स्वरूपानुसार, जिन पर कि वह प्रतिफलित या प्रतिबिम्बित होता है सविभेद तथा अचेतन प्रतीत होता है।

किन्तु प्रतिफलन दो दी हुई वस्तुओं के बीच सम्बन्ध की परिकल्पना है। अद्वैत की वास्तविक समस्या तो इसके पूर्व ही उपस्थित हो जाती है। यह समस्या है 'ब्रह्म' से अन्य के अस्तित्व की सम्भावना की जिसके अभाव में कि किसी भी प्रकार का सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता है। यह ध्यान में रखते हुए कि ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी अस्तित्व में नहीं है, यह प्रश्न सहज ही उठ जाता है कि फिर शुद्ध या निरपेक्ष चेतना के स्वभाव में वह कौन-सी वस्तु है जो उसे प्रतीत अचेतना में परिवर्तित कर देती है।

(२) परिमितता सिद्धान्त के अनुसार, सर्वव्यापी चित् 'मनस्', 'बुद्धि' तथा 'अहंकार' के अपने विशेषणों के कारण सीमित हो जाता है। इस सिद्धान्त को समझाने के हेतु सामान्यतः 'आकाश' का दृष्टान्त दिया जाता है जो कि यद्यपि असीम तथा एक है, किन्तु फिर भी घट या बादल के रूप को ग्रहण करने तथा उनसे सम्बन्धित होने के कारण उसे सीमित तथा अनेक कहा जा सकता है।

इस प्रकार अचेतन जगत सर्वव्यापी तथा असीम चित् के स्वपरिमिती करण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। असीम ही वास्तविक सत्य है जब कि परिमितता को केवल नाम तथा रूप के कारण ही अस्तित्व में समझना चाहिये। किन्तु यहाँ भी यह देखा जा सकता है कि 'आकाश' भी अपने या

1 बृहदारण्यक शांकर भाष्य २ १ १६।

केवल अपने से अन्य किसी ऐसी वस्तु में ही सीमित कर पाता है जो कि पूर्व से ही विद्यमान होती है। यदि केवल आकाश ही अस्तित्व में होता और उससे अन्य कुछ भी नहीं तो वह सदा असीम ही रहता, कभी सीमित नहीं हो सकता था। यह स्पष्ट ही है कि पूर्ण चेतना में स्व परिमितीकरण के लिए कोई कारण मूल प्रवृत्ति नहीं है और न कोई *आन्तरिक उत्प्रेरणा या* कारण ही है। तथ्य यह है कि अनुभवनिरपेक्ष पारमार्थिक चेतना तथा व्यावहारिक चेतना या चेतना तथा अचेतना के बीच सम्बन्ध की ये दोनों परिकल्पनायें (प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्बतवाद तथा अवच्छेदवाद) विश्व में द्वैत अस्तित्व की मान्यता के पश्चात् ही सगतिपूर्ण हो सकती हैं। ब्रह्म से अन्य 'द्वितीय' के अस्तित्व की सम्भावना की समस्या, जो कि अद्वैतवाद की केन्द्रीय कठिनाई है, इन परिकल्पनाओं से अस्पर्शित ही रह जाती हैं। अद्वैतवादी उत्तर निश्चय ही यही होगा, और हो सकता है कि ब्रह्म का यह परिमिती-करण भी केवल प्रतीतमात्र ही है, यथार्थ नही। जगत् के रूप में ब्रह्म का यह मिथ्या एव प्रतीतमात्र परिमितीकरण केवल अज्ञानी के लिए ही है। वस्तुत ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नही है।

किन्तु इस प्रकार के दृष्टिकोण में भी प्रकट कठिनाइयाँ हैं।

(३) वेदान्त के तीसरे सम्प्रदाय के अनुसार जीव' अनुभवातीत आत्मा का न तो प्रतिबिम्ब है और न परिमितीकरण है। किन्तु जिस प्रकार कुन्ती-पुत्र *राधा पुत्र की तरह जाना गया था या जिस प्रकार कि निम्नजातीय* परिवार म जीवित होने के कारण शाही परिवार के राजकुमार ने अपने को भूल से निम्न जातीय ही समझ लिया था, उसी प्रकार ब्रह्म स्वय अपनी अविद्या के कारण सीमायें ग्रहण करता है तथा बाद में स्वयं अपने ही विवेक-ज्ञान द्वारा मुक्त होता है। सांख्य भी 'राजपुत्रवत् तत् उपदेशात्' में दृष्टान्त स्वरूप इसी कहानी का उपयोग करता है तथा सांख्य और योग दोनों अद्वैत-वादी के समान ही अविवेक की परिकल्पना का भी स्पष्ट निर्देश करते हैं। इसका अर्थ है कि पारमार्थिक सत् में वस्तुत न तो कोई प्रतिफलन है और न कोई परिमितीकरण या रूपान्तरण। वह 'अविद्या या अज्ञान के कारण, जिसकी सत्ता कि केवल उस समय तक ही रहती है जबतक कि भ्रम अवशिष्ट रहता है, स्वय अपने आपको व्यावहारिक लक्षणों को मानने का भ्रान्त विश्वास कर लेता है। इस तरह *आत्मा आत्मा है* और कोई भी आत्मा, वस्तुत, बद्ध या मुक्त नहीं है।[१]

अविद्या या अज्ञान की यह परिकल्पना भी, जिसमें कि अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी दोनों को इस भेद के अतिरिक्त सामान्य रूप से विश्वास है कि,

जब कि शकर उसे किसी रूप से ब्रह्म से सम्बन्धित बताते हैं, तब सांख्याचार्य प्रकृति से उसका सम्बन्ध जोडते हैं, उस समय स्वयं अपनी कठिनाइयों से मुक्त नहीं है जबकि ब्रह्म से उसके ठीक सम्बन्ध निर्धारण का प्रश्न उपस्थित होता है। यह घोषित करना ही अद्वैतवादी के लिए एकमात्र सम्भवनीय उत्तर है कि माया के इस सिद्धान्त का कोई सुनिश्चित स्वरूप नहीं है, तथा वह स्वय मे अनिर्वचनीय है। अद्वैतवादी की शक्ति वस्तुत इतनी स्वयं अपनी स्थिति म निहित नहीं है जितनी कि अद्वतवादी स्थिति के सतोषजनक रूप को प्रदर्शित करने में। 'ब्रह्म' अज्ञान का रचयिता नहीं है और न वह ऐसा ही कर सकता है। यह तो ठीक है किन्तु कठिनाई इस कारण और कठिन हो जाती है क्योंकि यह भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई अन्य वस्तु भी अस्तित्व में है जो कि अज्ञान की रचयिता या भ्रान्ति का कारण हो सकती है।[2]

इन सिद्धान्तों में से कोई सिद्धात सदिग्धता और अबोधगम्यता से मुक्त नहीं है। यह उलझन भौतिक दृष्टान्तों के कारण और भी बढ़ गई है। अव्यय चित् या शुद्धबुद्धि प्रतिफलित नहीं हो सकती क्योंकि प्रतिफलन के लिए एक नहीं दो तत्वों की नितात आवश्यकता है। और तब अस्तित्व के विभिन्न तत्वों से सम्बन्धित विषय, मौलिक या प्रतिफलित विषयों की भाँति व्यवहार न ही कर सकते हैं और नहि अद्वय चित् स्वय अपने या किसी अन्य पदार्थ द्वारा अवरोधित या सीमित हो सकता है। अद्वैतवाद स्वीकार करता है कि 'अज्ञान आत्मा का नैसर्गिक लक्षण नहीं है क्योंकि यह वृद्धिमान होता है, ह्रासमान होता है, तथा सम्पूर्णतया भी विनष्ट हो सकता है। किसी भी पदार्थ के लिए जो गुण नसर्गिक हैं, वे विनष्ट नहीं किये जा सकते। ज्ञान आत्मा का नसर्गिक गुण या स्वरूप है और उसे उसी भाँति विनष्ट नहीं किया जा सकता जिस भाँति कि सूय की गर्मी और प्रकाश विनष्ट नहीं किये जा सकते। किन्तु तब, किसी पदार्थ के लिए जो कुछ नैसर्गिक है उसे परा जित या अवरोधित भी नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार हम यहाँ एक नई कठिनाई में पड गये प्रतीत होते हैं। सम्भवत माया के सिद्धात का निश्चित स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता। यह हो सकता है कि इस प्रकार के प्रश्न पूछना, जिनका कि तब तक उत्तर नहीं दिया जा सकता है जबतक कि अविद्या का पर्दा नहीं उठ जाता है शायद अतिप्रश्न पूछना है। यह हमारी परिमितता है जो कि प्रश्नों को उठाती है तथा उत्तर को रोकती

१ सांख्यकारिका ६२ वाचस्पति २ १७।

२ बृहदारण्यक, शाकरभाष्य १ ४ १०।

भी है। सत् ज्ञान की उपलब्धि तथा ब्रह्म की सत् सत्ता के दर्शन के पश्चात 'अचित्' या व्यावहारिक जगत् का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता और इसलिए स्वभावतः ही तत्सम्बन्धी प्रश्नों की समाप्ति भी हो ही जाती है। माया का व्याख्यात्मक सिद्धान्त तथा शुद्ध चित् से अन्य वस्तुओं की सत्ता, दोनों केवल उस समय तक ही अस्तित्व में रहती हैं, जबतक कि ब्रह्मानुभूति की उपलब्धि नहीं हो जाती। ब्रह्मानुभूति के बाद दोनों में से किसी का भी कोई अस्तित्व नहीं रह जाता।

अद्वैतवाद का यह मूलाधार सिद्धान्त है कि चित् के अनन्त तथा सर्वव्यापी प्रकाश के अतिरिक्त कुछ भी यथार्थ नहीं हो सकता। यह अनन्त चित् अपने प्रपंच तथा प्रसरण के लिए स्वयं पर्याप्त है। वह अपने में से ही पदार्थ जगत् का निर्माण करने में समर्थ है और किसी अन्य तत्व के अस्तित्व की अपेक्षा उसे नहीं है। द्वैतवादी दृष्टिकोण इसके पूर्णतः विपरीत है और उसका सिद्धांत है कि 'प्रकाशत्व स्वयं अपने को एक विषय नहीं बना सकता है।' इस आक्षेप के प्रत्युत्तर में अद्वैतवाद का कथन है कि वस्तुतः प्रकाशत्व स्वयं अपने को विषय नहीं बनाता है। ब्रह्म और जगत् अभिन्न हैं और इस कारण दोनों के मध्य सम्बन्ध का प्रश्न स्वीकृति योग्य ही नहीं है। किन्तु अद्वैतवाद के साथ हमारी वर्तमान कठिनाई, चित् और अचित् जगतों के मध्य सम्बन्ध के बजाय उनकी सृष्टि की ही अधिक है। अद्वैतवाद के लिए यह उचित प्रतीत नहीं होता है कि प्रथम तो वह यथार्थ के दो जगतों को पूर्वमान्यता प्रदान कर दे और फिर बाद में एक में ही पारमार्थिक या अनुभव निरपेक्ष यथार्थ पर जोर देकर अद्वैत को न्यायोचित ठहराने का प्रयत्न करे। यह स्पष्ट ही समस्या से पलायन प्रतीत होता है। अद्वैतवादी स्थिति से जो समस्या खड़ी हो जाती है वह यह है कि ब्रह्म के एकाकी यथार्थ से ब्रह्म तथा जगत् का द्वैत किस भाँति उद्भूत हो सकता है?

'माया' के सिद्धान्त की आलोचना

अद्वैत के अनुसार अचेतन जगत् का सृजन अविद्या का कार्य है और 'अविद्या' स्वाभाविक, अनादि तथा अव्याख्येय है।[१] अविद्या को निश्चय ही विनष्ट किया जा सकता है अन्यथा मुक्ति तथा ब्रह्म के सत् स्वरूप की अनुभूति सम्भव नहीं हो सकती। उसका अन्त है किन्तु कोई आदि नहीं है। अविद्या, किसी भाँति ब्रह्म से सम्बन्धित है। उसे उसके अनेकता, परिमितता,

---

१ चित्सुखी १ १२।

और ब्रह्म के सत्य स्वरूप के आच्छादन के गुणों के कारण 'माया' कहा गया है।[१]

माया या अविद्या के इस सिद्धान्त पर, जोकि अद्वैत वेदान्त की अत्यधिक महत्वपूर्ण तत्वमीमांसात्मक धारणाओं में से एक है, रामानुज, पार्थसारथी मिश्र और श्रीधर द्वारा अनेक आक्षेप उठाये गये हैं।[२] इन आक्षेपों और आलोचनाओं पर नीचे विचार किया गया है।

यह पूछा जाता है कि क्या 'अविद्या' स्वयं ही भ्रांत ज्ञान है या वह कुछ अन्य वस्तु है जोकि भ्रांत और मिथ्या ज्ञान का उद्भव-कारण है? यदि स्थिति पूर्वगामी है तो अविद्या किसकी है? वह ब्रह्म से तो सम्बन्धित हो ही नहीं सकती है क्योंकि उसका स्वरूप ही शुद्ध ज्ञान है, और न वह 'जीव' से ही सम्बन्धित हो सकती है, क्योंकि 'जीव' तो स्वयं ही अविद्या की उत्पत्ति है। फिर भी यदि यह कहा जाये कि वह जीव से सम्बन्धित है तो इस स्वीकृति में यह स्वीकार भी निहित है कि 'अविद्या' का अस्तित्व ब्रह्म से अतिरिक्त और अन्य है और तब अद्वयता की स्थिति स्पष्ट ही छूट जाती है।[३]

इस सम्बन्ध में शंकर के प्रत्युत्तर को हम पहले ही संक्षेप में निर्देशित कर चुके हैं प्रथमतः उस समय तक जबतक कि हम सीमित हैं, हम अविद्या के सच्चे स्वरूप को नहीं समझ सकते हैं और उस समय, जबकि हमने सत्य ज्ञान को उपलब्ध कर लिया है ब्रह्म तथा जगत की कोई समस्या शेष नहीं रह जाती है।[४] द्वितीय अद्वैत द्वारा अविद्या के सिद्धांत को अनिर्वचनीय स्वीकृत किया गया है जिसके प्रति कि किसी प्रकार के सुनिश्चित वक्तव्य नहीं दिए जा सकते हैं। यह स्वीकृत नहीं किया गया है कि ब्रह्म से अन्य और अतिरिक्त कोई वस्तु अस्तित्व में हो सकती है तथा सत् के परम स्वरूप के प्रति हमारी तत्वमीमांसात्मक जिज्ञासा को तब संगत रूप से सन्तुष्ट कर सकती है। इस प्रकार, माया यद्यपि किसी प्रकार से ब्रह्म में है तथापि वह उससे सम्बन्धित नहीं है। और अन्ततः, माया या भ्रम का अस्तित्वपूर्ण तथा

१ शांकरभाष्य १ ३ १९।

२ शास्त्र दीपिका पृष्ठ ३१३ ३१४ रामानुज भाष्य २ १ १५। न्यायकंदली पृष्ठ २७।

३ शास्त्र दीपिका ३१३ ३१४

४ भगवद् गीता, शांकरभाष्य १३ २ पृष्ठ १०५। आनन्द आश्रम संस्कृत सीरीज नं० ३४।

काल्पनिक नहीं है और न वह व्यावहारिक जगत् के पदार्थों को ही पूर्णतया या समग्र तथा अयथार्थ बनाता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से भ्रम भ्रम नहीं है। वह स्वयं अपने ही व्यावहारिक दृष्टिबिन्दु से उतना ही यथार्थ है, जितना कि वह अनुभवातीत दृष्टिबिंदु से अयथार्थ है। माया में, इस कारण, उस समय तक जबतक कि उसे विनष्ट नहीं कर दिया जाता है पूर्ण यथार्थता होती है। वह अयथार्थ है तो इस कारण क्योंकि उसे ब्रह्म की अन्तिनानी नित्य सत्ता और अस्तित्व प्राप्त नहीं है।[१]

सम्बन्ध के सम्बन्ध में द्वैतवादी सिद्धान्त

द्वैतवाद के अनुसार, चेतना तथा अचेतना दोनों ही पूर्ण विरोधियों की भाँति स्वतन्त्र तथा नित्यरूप से सत्तावान हैं किन्तु वे किसी रूप से आपस में सम्बन्धित हो जाती हैं। उस समय तक जबतक कि वे असम्बन्धित तथा पृथक् रहती हैं, अनुभव अस्तित्व में नहीं आता। अनुभव का प्रादुर्भाव चित् के 'केवल अस्तित्व तथा असम्बन्धित स्वभाव की अनुभूति करने की असफलता में से होता है। और उसी क्षण जिस क्षण कि इस सम्बन्धहीनता और केवलत्व को अनुभव या प्रत्यक्ष कर लिया जाता है 'पुरुष' को कैवल्य और मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है जो कि सत्वज्ञान और अनुभव का लक्ष्य है। किन्तु सूत्र में इस कथन में कि 'अनुभव सत्व तथा आत्मा में विभेद करने की असफलता मात्र है जो कि पूर्णतया असंयुक्त तथा पृथक् हैं'[२] अनेक कठिनाइयाँ सन्निहित हैं। यह प्रश्न स्वभावतया ही उठता है कि यदि स्थिति सूत्रानुसार ही है, और चेतन 'पुरुष' तथा अचेतन 'प्रकृति' में मूलतः कोई सम्पर्क नहीं है तथा दोनों ही 'अत्यन्त संकीर्ण हैं, तब अनुभव का प्रारम्भ किस प्रकार होता है या हो सकता है? वाचस्पति ने इसी प्रश्न को इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि वह आत्मा, जिसका स्वरूप कि चित् या चैतन्य है तथा जिसकी दीप्ति किसी अन्य पर निर्भर नहीं है किस प्रकार उसे

---

१ द्रष्टव्य राधाकृष्णन्
ईस्टर्न रिलीजन्स एण्ड वेस्टर्न थाट केवल इस कारण क्योंकि अनुभव का जगत् यथार्थ का पूर्ण ज्ञान नहीं है यह कदापि अनुसरित नहीं होता है, कि वह भ्रम है। तथा मी० हैमन रियल्टी आफ दि माइन्ड इन हिन्दु थाट' माया या भ्रम की सत्ता केवल पारमार्थिक दृष्टिकोण से ही है।

२ योगसूत्र ३ ३५।

प्रकाशित कर सकती है जो कि जड है, तथा दूसरी ओर, जड वस्तु उसके प्रकाशत्व को किस प्रकार किंचित् भी ग्रहण कर सकती है।[१]

'सत्व के पारदर्शी स्वभाव पर आधारित प्रतिफलन या दुहरे प्रतिफलन के सिद्धांत द्वारा उपरोक्त प्रश्न के उत्तर तथा अनुभव की सम्भाव्यता की व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास किया जाता है।[२] यह कहा गया है कि सत्व में, यद्यपि बुद्धि के संयोग से नहीं, किन्तु उस सीमा तक जहाँ तक वह पूर्ण तथा सुस्पष्ट है, चित् का प्रतिबिम्ब सन्निहित होता है वह चित् के सम्पर्क में आता प्रतीत होता है और इस प्रकार विभिन्न वस्तुओं का अनुभव करता

---

१ योगसूत्र पर वैशारदी २ ३५।

२ अनुभव को सम्भव बनाने के लिए पुरुष तथा सत्व' ठीक रूप से किस प्रकार सन्सर्ग में आते हैं इस सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञान भिक्षु के विचारों में महत्वपूर्ण विभेद है। वाचस्पति के अनुसार, प्रतिफलन एक इकहरा व्यापार है अर्थात् पुरुष बुद्धि में ठीक उसी प्रकार से प्रतिबिम्बित होता है जिस प्रकार कि दर्पण में मुख या जल में चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता है। दर्पण का मुख में या प्रतिबिम्बित जल का चन्द्रमा में कोई और या परस्पर प्रतिफलन नहीं होता है। इस परिकल्पनानुसार पुरुष सदा अस्पान्तरित ही रहता है। इसके विपरीत विज्ञानभिक्षु का सोचना है कि ज्ञान या अनुभव की व्याख्या के लिए इकहरे प्रतिफलन की धारणा उपयुक्त नहीं है। उनका प्रस्ताव है कि बुद्धि में पुरुष के प्रतिबिम्बित होने पर प्रतिबिम्बित बुद्धि पुरुष पर स्वयं अपना प्रतिबिम्ब भी डालती है और यह पारस्परिक प्रतिफलन ही है जो कि पुरुष को बुद्धि के रूपान्तरों का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ बनाता है जिन्हें कि वह भ्रान्तिवश स्वयं अपना ही रूपान्तर समझ लेता है। ये दोनों ही व्याख्याएँ कठिनाइयों के लिए खुली हुई हैं। जबकि द्वितीय परिकल्पना, अनुभव की सम्भाव्यताओं की ज्यादा ठीक से व्याख्या करती है, तब यह पुरुष के सत् तथा अनुभवातीत स्वरूप में समझौता कर लेती है और चित् की परम्परागत विशुद्धता शेष नहीं रह जाती है। इसके विपरीत प्रथम व्याख्या जबकि अनुभव की सम्भाव्यताओं को समझने में असफल हो जाती है तब वह शुद्ध चित् के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं करती है और चित् शक्ति के पूर्णरूपेण अरूपान्तरित स्वरूप की परम्परागत विशुद्धता को कायम रखती है। (द्रष्टव्य योगवार्तिका) १ ४ तथा २ ३५।

है।[1] और इस इस वक्तव्य द्वारा समझाया गया है 'बुद्धेह प्रतिसम्वेदी पुरुष' अर्थात् जो कि अपरोक्ष द्रष्टा नही है, केवल बुद्धि की वृत्तियों को प्रतिबिम्बित करके ही जानता है। परिणामत, वह परोक्ष ज्ञाता है। 'पुरुष' तथा 'सत्व' दोनों के संयोग को सम्भव बनाने के हेतु, यह मानना आवश्यक है कि 'पुरुष' सत्व' से पूर्णरूपेण भिन्न नही है। 'स बुद्धेर नात्यन्तम् विरूप'।[2] पुरुष बुद्धि से पूर्णतया भिन्न नही है, क्योंकि, यद्यपि शुद्ध होते हुए भी, वह उन विचारों को देखता है जो कि मन में आये होते हैं। वह चेतना की घटनाओं को, उनके घटित हो चुकने के बाद जानता है और यद्यपि उसका स्वभाव बुद्धि के स्वभाव से भिन्न है तथापि वह उसके समान ही प्रतीत होता है। इस कारण, इस द्वैतवादी दृष्टिबिंदु के अनुसार चेतना का उद्भव या तो वाचस्पति के अनुसार 'सत्व' में पुरुष के प्रतिबिम्बित तथा दूसरे प्रतिबिम्ब से होता है, या विज्ञानभिक्षु के अनुसार एक दूसरे पर परस्पर प्रतिफलन से होता है।[3]

इस द्वैतवादी दृष्टिकोण को सक्षेप से प्रस्तुत करने पर, ज्ञान या चेतना के उद्भव की प्रक्रिया कुछ इस प्रकार की होगी। बुद्धि उस विषय के रूप के अनुरूप रूपान्तरित होती है जिसे वह देखती है, और किसी विषय के रूप को ग्रहण करने के पश्चात् उसे पुरुष या नित्य प्रकाश के सम्पर्क में आना होता है। इन दोनों के सम्पर्क से 'मैं इसे जानता हूँ' के रूप में बुद्धि में प्रकाश का उदय होता है। यह स्थिति या तो पुरुष में पुन प्रतिफलित होती है जो इस स्थिति को, जो कि वस्तुत बुद्धि से सम्बन्धित होती है अपने से सम्बन्धित समझने की भ्रान्ति कर लेता है या फिर पुरुष अपने प्रकाश को बुद्धि पर प्रतिबिम्बित करके स्वय अपने को ही उसका प्रतिबिम्ब मानता है। 'प्रत्ययानुपश्य' से भी यही अर्थ प्रयोजित है। प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में अक्रिय पुरुष, सक्रिय बुद्धि के उसमें प्रतिफलन के कारण अपने आपको भूल से सक्रिय समझता है तथा अचेतन बुद्धि चेतन पुरुष से उसकी सन्निकटता के कारण चेतन प्रतीत होती है।[4]

किन्तु ज्ञान तथा अनुभव की इस द्वैतवादी गणना में एक गम्भीर कठिनाई निहित है। यह कहा गया है कि 'चित् जो कि विषय के संयोग में नहीं

---

१ योगसूत्र बनारसी २ १७।

२ योगभाष्य २ २०।

३ योगवर्तिका १ ४ तथा २ ३५।

४ योगसूत्र १ ४ २ २०।

येंघता, स्वय अपनी बुद्धि के प्रति उस समय चेतन होता है जब वह उसे प्रति-विम्बित करके उसका रूप ग्रहण कर लेता है।[1] किन्तु चित् मन की अस्थिर सामो के अनुरूप अपने को ढाले बिना बुद्धि का रूप किस प्रकार ग्रहण कर सकता है ? इसके उत्तर में यह कहा गया है कि 'यद्यपि चन्द्रमा स्वच्छ जल से सम्बद्ध नही होता है तब भी वह उस सीमा तक, उससे सम्बद्ध प्रतीत होता है जहाँ तक उसका प्रतिविम्ब जल से सम्बद्ध होता है। ज्ञान तथा चेतना के सम्बन्ध में भी स्थिति इसी तरह की है।[2] यद्यपि चित् बुद्धि से सम्बद्ध नहीं होता, तथापि वह उसके प्रतिविम्ब के सम्बद्ध हो जाने के कारण सम्बद्ध प्रतीत होता है। किन्तु पुरुष का प्रतीत मात्र प्रतिविम्ब भी अचेतन 'सत्व मे किस प्रकार से उचित हो सकता है या सदय अरूपा तरित रहनेवाला चित् ज्ञान के परिवर्तनशील लक्षणों को कसे ग्रहण कर सकता है, इसका उत्तर योगसूत्र (३ ५५)[3] से प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है जो दर्शाता है कि बुद्धि के शुद्ध स्वभाव म पुरुष के स्वभाव से कुछ उभयवर्ती या समानस्वरूपी भी है। 'कैवल अवस्था मे बुद्धि इतनी विशुद्ध हो सकती है कि पुरुष को, जसा कि वह अपने आप म है, ठीक वसा ही प्रतिविम्बित कर सकती है। किन्तु सत्व की विशुद्धता तथा चित् क साथ उसकी अनुरूपता का यह सिद्धान्त, जोकि सत्व को पुरुष की एक झलक पकड पा सकने मे समर्थ बनाने के लिए प्रस्तावित किया गया है, या तो स्थिति के कठोर द्वतवाद को हानि पहुँचाता है या फिर प्रतिविम्बित की समुचित व्याख्या नही कर पाता, क्योंकि, द्वतवादी, परिकल्पना के अनुसार पुरुष, जोकि त्रिगुणातीत' है बुद्धि से इतना भिन्न है जोकि गुणा म से एक है कि उनके मध्य मिलन का कठिनाई से ही कोई बिन्दु हो सकता है।

इस कारण हमे सांख्य-योग के द्वतवादी सिद्धान्त म ज्ञान की ऐसी कोई सन्तोषजनक व्याख्या प्राप्त नही होती है जिसके अनुसार कि अचेतन बुद्धि पुरुष के द्वारा अनायास तथा यान्त्रिक रूप से प्रकाशित होती है। इस दृष्टिकोण में यह प्राथमिकता से मान लिया गया है कि अनुभव के विषयी तथा विषय अनुभव से समग्ररूपेण बाह्य हैं और फिर अनुभव का सम्भव बनाने के हेतु उन्हें एक साथ लाने के लिए उसे सघर्ष करना होता है। डा० राधाकृष्णन ने कहा है कि 'यदि पुरुष की निष्क्रिय चेतना तथा प्रकृति की अनवरत गतिम

१ योगसूत्र ४ ३२।
२ वशारदी २ २० तथा ४ २२।
३ योगसूत्र ३ ५५।

यता को एक दूसरे से स्वतन्त्र मान लिया जाता है जो उस स्थिति म दर्शन की समस्या किसी भी दृष्टि से हल योग्य नहीं ठहरती।[1] अनुभव के सत्यतर विश्लेषण को हमें यह बताने म समर्थ होना चाहिए कि ज्ञान के विषयी तथा विषय पूर्णतया पृथक नहीं है तथा दोना क पास उनके आधार तथा सहारे की तरह अनुभवातीत चतना है, जिसके अन्तगत कि वे सयुक्त होते तथा एक दूसरे से बधते ,हैं।

बुद्धि के मध्यवर्ती स्वभाव के सिद्धान्त की आलोचना

सांख्य-योग तत्वमीमांसानुसार चेतना तथा अचेतना के मध्य किसी भी प्रकार का सम्बन्ध पूर्णरूपेण असम्भव प्रतीत होता है। किन्तु कुछ आधुनिक भारतीय सिद्धान्तों (दासगुप्ता तथा प्रो० सिन्हा) ने पुरुष तथा प्रकृति की मध्य की खाई को कम करने तथा दोनों के बीच अन्तक्रियात्मक सम्बन्ध बनाने के हेतु प्रयास किया है जिसके आधार पर ही कि कोई भी प्रस्तावित प्रतिबिम्ब की घटना सम्भव हो सकती है। यह तो स्पष्ट ही है कि दो पूर्णतया विपरीत जातीय पदार्थों के मध्य प्रतिफलन सम्भव नहीं है। इस कारण, अपनी विशुद्ध स्थिति मे सत्व के साथ चित् की सादृश्यता के द्वारा इस विपरीतता को उसकी न्यूनतम सीमा पर लाने का प्रयत्न किए गये हैं, और इस प्रकार उन दोनों के मध्य प्रतिक्रिया की परिकल्पना को सम्भव बनाया गया है।

प्रो० सिन्हा कहते हैं 'सांख्य का द्वैतवाद इस स्वीकृति मे कम हो जाता है कि 'प्रकृति के रूपभेदों में अस्तित्व के विभिन्न स्तर हैं जिनम से उच्चतम 'बुद्धि ' है।[2] बुद्धि निःसन्देह अचेतना है किन्तु सत्व' की प्रधानता के कारण वह इतनी पारदर्शी है कि पुरुष के स्वभाव के लिए वह नितान्त विदेशी नहीं है और अतएव वह पुरुष के प्रतिबिम्ब को पकड सकती है जबकि स्थूल पौद्-गलिक पदार्थ उनम तामस की प्रधानता होने के कारण, पुरुष के प्रकाश को प्रतिफलित नहीं कर सकते। इस प्रकार बुद्धि को स्थूल पदार्थ तथा चेतन पुरुष के मध्य एक प्रकार की मध्यवर्ती सत्ता की तरह प्रस्तुत किया गया है।[3] तथा प्रस्तावित किया गया है कि यह दोनों के स्वभाव में साझीदार है। वह स्थूल पदार्थ की तरह अचेतन है किन्तु स्वदीप्तिवान पुरुष की तरह

१ राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी भाग २ पृष्ठ ३३२।

२ सिन्हा 'इण्डियन साइकोलाजी, पृष्ठ १२५।

३ सिन्हा इण्डियन साइकोलाजी, पृष्ठ १२५ सांख्यानुसार 'बुद्धि' स्थूल पदार्थ तथा चेतन पुरुष के मध्य एक प्रकार की मध्यवर्ती सत्ता है।'

पारदर्शी भी है। यह बुद्धि के माध्यम द्वारा ही सम्भव हो पाता है कि चेतन पुरुष तथा अचेतन पौद्गालिक पदार्थ एक दूसरे के सम्पर्क मे आते हैं। बुद्धि को मध्यवर्ती बनाकर इस प्रकार एक का दूसरे में पारस्परिक प्रतिफलन सम्भव बताया जाता है।

प्रो० दासगुप्ता का कथन है कि 'यह साधारण कठिनाई कि पूर्ण असमान अंशी एक दूसरे के साथ सम्पर्क में किस प्रकार आ सकते हैं, उस समय विलीन हो जाती है जब हम सांख्ययोग दृष्टिकोण से इस बिन्दु की ओर देखते हैं।[1]

किन्तु असमान अंशियो के एक दूसरे के सम्पर्क की कठिनाई को हल करने का यह प्रयत्न सफलता की बजाय वैसा करने की अभिलाषा को ही कहीं अधिक प्रदर्शित करता है। इस प्रकार के व्याख्याकार सम्भवत निम्न प्रकार के वक्तव्यों को अपनी व्याख्या का आधार बनाते हैं 'वह न समजातीय है और न पूर्णरूपेण विषयजातीय ही है'[2] तथा 'सत्व पुरुषयो शुद्धि समये कैवल्यम्' जिनमें कि पुरुष तथा सत्व की सादृश्य के आधार पर दोनों के मध्य की खाई को पाटने तथा अनुभव को सम्भव बनाने के हेतु प्रयास किया गया है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकार के प्रयत्न सफल हुए हैं या हो सकते हैं? सत्व की प्रधानता के कारण बुद्धि शुद्ध तथा पारदर्शी हो सकती है वह प्रकृति के विकास की श्रेष्ठतम वस्तु भी हो सकती है, किन्तु इससे वह द्वैतवादी दृष्टिकोण के अनुसार कठोररूप से द्विविभाजित सत्ता के दूसरे विभाग म होने के अपने स्वभाव से विहीन नही हो सकती। प्रकृति की सूक्ष्मतम तथा श्रेष्ठता विकसित वस्तु भी अन्तत प्रकृति ही है और पुरुष के साथ तादात्म्यम् या उसके स्वभाव की साझी नही हो सकती। यदि पुरुष तथा प्रकृति सत्व मे मिलते हैं, जैसा कि प्रो० दासगुप्ता तथा सिन्हा द्वारा प्रस्तावित किया गया है, तब वस्तुत सांख्ययोग का द्वैतवाद टूट जाता है। भौतिक तथा मानसिक रूपभेद तो एक ही परम् यथार्थ, उदाहरणार्थ, प्रधान के रूपभेद हो सकते हैं तथापि उन्हें द्वितीय परम सत्ता पुरुष के रूप भेद नहीं कहा जा सकता जो कि निरन्तर रूप से अरूपान्तरित तथा अपरिवर्तित है। प्रो० दासगुप्ता एक अन्य स्थल पर अपने वक्तव्य में निहित स्वविरोध का अनुभव किये बिना स्वयं ही अपनी बात का खण्डन करते हैं। उनका कथन है कि बुद्धि अहकार तथा मनस् मानसिक वस्तुएँ होते हुए भी पुरुष से सम्ब

१ दासगुप्ता कल्चर हेरीटेज आफ इण्डिया भाग १, पृष्ठ ४०७।

२ योगभाष्य २२०।

चित नहीं हैं बल्कि वे सब प्रकृति के विकास की ही अवस्था हैं ।[१] क्या उनका अभिप्राय यह है कि प्रकृति का विकास ही, जब वह अत्यन्त विशुद्ध और पारदर्शी हो जाता है, तो पुरुष में परिणत हो जाता है ? सत्व या तो गुणों का एक विधायक सदस्य है (चाहे वे कितने ही सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्यों न हों) और अन्त उस पुरुष से पूर्णतया असमान तथा किसी भी प्रकार के ससर्ग और प्रतिफलन म अक्षम चाहिये, या फिर यदि वह प्रतिबिम्ब को किंचित् भी ग्रहण कर सकता है तब वह कठोर द्वैतवादी स्थिति के लिए एक अत्यन्त असगतिपूर्ण तथ्य बन जाता है । पुन , यदि सत्व इतना सूक्ष्म और पारदर्शी बन सकता है कि वह पुरुष के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने में समर्थ हो सके, तो फिर उसे पुरुष के साथ एक होने से कुछ भी अवरुद्ध नहीं करता है। एक कदम और कि प्रकृति और पुरुष सत्तामीमांसात्मक रूप से एक हो जाते हैं तथा द्वैतवाद अद्वैतवाद में विलीन हो जाता है। इस प्रकार का सरल हल प्रस्तुत कठिनाई को समाप्त तो नहीं करता बल्कि 'चित' के साथ पारदर्शिता को एक समझने की एक और भूल जरूर करता है। सम्पूर्ण 'चित' पारदर्शी है किन्तु इसकी विपरीत स्थिति सत्य नहीं है तथा स्फटिक चमकदार धातुओं तथा जल की पारदर्शिता से चित का कोई सादृश्य नहीं है। रूपको तथा उपमाओं की आंशिक सादृश्यताओं का पूर्ण तादात्म्यक म नहीं खीचा जा सकता, अन्यथा बुद्धि का कैवल्य की अवस्था में चित पुरुष में तादात्म्यीकरण हो जायगा। सांख्यकारिका सुनिश्चित रूप से कहती है कि अन्तिम पृथक्ता और स्वरूप भेद की अनुभूति के बाद नर्तकी अपने नृत्य को सदा के लिए बन्द कर देती है।[२]

उस समय तक जब तक कि बुद्धि स्वरूपत चित विरोधी शिविर से सम्बन्धित है, उसे एक मध्यवर्ती या अतिभौतिक वस्तु बना देने से ही स्थिति में कोई सुधार नहीं होता। सांख्ययोग की समस्या तो दो तत्वों के सयोगमात्र का ही सम्भव बनाना है। उसकी समस्या है उन तत्वों की स्वीकृत विपरीतता के साथ ही साथ उनके सम्बन्ध और ससर्ग की जिसमें कि प्रभावित परिकल्पनाएँ और प्रस्ताव अत्यन्त असफल सिद्ध हुए प्रतीत होते हैं। यह भी स्पष्ट है कि इस स्थिति को और समुचित तथा सगत रूप देने का अब इन दो विकल्पों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता है कि या तो असम्भव समझ कर इस तरह की व्याख्या का प्रयास ही छोड़ दिया और या फिर अद्वैत तत्व

१ योगसूत्र ३ ३५।
२ सांख्यकारिका ६१।

मीमांसा को ही तार्किक दृष्टि से भरक्षणीय और असगत मान लिया जाय। प्रो० दासगुप्ता का निष्कर्ष है कि 'इसलिए मनस तथा शरीर का सम्बन्ध योग सिद्धान्त म किसी विशिष्ट समस्या को प्रस्तुत नही करता है।' यह सुस्पष्ट है और कोई भी इसे सोच सकता था कि योग दशन में पाश्चात्य दर्शन के शरीर तथा मन दोनो एक ही परम यथाथ प्रधान के विकास हैं, और इस तरह उस दशन प्रणाली मे प्रश्न शरीर तथा मन के सम्बन्ध का नहीं, वरन मनस् और पुरुष के सम्बन्ध का है। योग दशन म द्वैत मनस तथा पुद्गल के मध्य नहीं है किन्तु मन तथा व्यावहारिक चेतना के मध्य एक प्रकार का अनुभव निरपेक्ष द्वतवाद है।[1] सांख्ययोग का द्वैतवाद तथा अनुभव की सम्भावना का सह अस्तित्व सम्भव नही हो सकता है और बुद्धि को दोनो के स्वभाव का सह अस्तित्व सम्भव नही हो सकता है, और बुद्धि को दोनो के स्वभाव का साक्षी बनाना, पुरुष तथा प्रकृति के मध्य पूर्ण वभिन्य के स्वीकृत मत से कठिनाई को हल करने की बजाय द्वतवाद को ही छोड देना कहीं अधिक है।

सम्बन्ध के द्वैतवादी सिद्धान्त

सांख्ययोग चेतना तथा अचेतन के सम्पर्क की तीन उपपद्य परिकल्पनायें प्रस्तुत करता है।

(१) सन्निकटता या 'सन्निधिमात्र' का सिद्धान्त।
(२) अचेतन हेतुवाद या पुरुषाथ का सिद्धान्त।
(३) पूव स्थापित सामञ्जस्य या 'योग्यता' का सिद्धान्त।

(१) 'सन्निधिमात्र'[2] के सिद्धान्तानुसार पुरुष बुद्धि के रूप भेदों को अपने पास खींचता है। उन्हे दृश्य बनाता है तथा उनस अपने लक्ष्य की पूर्ति अपनी उपस्थिति मात्र से पूरा करवाता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की चुम्बक स्वय अचल रहते हुए भी केवल सन्निकटता के कारण लाहे को अपने पास खींच लेता है[3] पूर्व सदर्भित बुद्धि म आत्मा क प्रतिबिम्ब के सिद्धान्त की 'सन्निधिमात्र' की इस परिकल्पना द्वारा व्याख्या की जाती है। बुद्धि मे आत्मा से सान्निध्य के कारण आत्मा बुद्धि म प्रतिबिम्बित होती है

१ योगसूत्र २ ६।
२ शतपथ ब्राह्मण १ ८७ ६६ स ख्यकारिका, २१ तथा ५७ योगभाष्य १ ४२ १२,४२२ १७।
३ योगभाष्य १ ४ २ १८।

जब कि बुद्धि आत्मा का रूप ग्रहण करती है।[1] और इस प्रकार बुद्धि अनुभव की क्रिया को आत्मा के लिए पूरा करती है।

अक्रिय किन्तु चेतन पुरुष को, सक्रिय किन्तु अचेतन बुद्धि को प्रभावित करने के हेतु सक्रिय होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसका सान्निध्य मात्र ही, बुद्धि को सचेतन बनाने तथा अपनी बारी में बुद्धि के रूप भेदों के साथ स्वयं के स्वरूप के स्वतादात्म्यीकरण में भ्रान्ति के लिए पर्याप्त है।[2] 'बुद्धि पुरुष से अपनी सन्निकटता के कारण चैतन्य को प्राप्त कर लेती है। पुरुष, यद्यपि वह बुद्धि के रूपभेदों का प्रतिबिम्बित करता है, तब भी रूपान्तरित नहीं होता है क्योंकि सनस् वस्तु पुरुष के साथ सम्बद्ध नहीं, बल्कि केवल उसके निकट मात्र ही होती है।[3]

किन्तु यह सान्निध्य या तो नित्य हो सकता है या अनित्य और वह नित्य हो चाहे अनित्य 'सन्निधिमात्र' की यह परिकल्पना दोनों ही स्थितियों में कठिनाइयों से परिपूर्ण है। यदि वह नित्य है तब पुरुष की अन्तिम कैवल्य की अवस्था असम्भव है और यदि वह अनित्य है तब उसके अस्तित्व में आने की सकारण व्याख्या आवश्यक हो जाती है। सांख्य का उत्तर यह है कि वही बुद्धि जोकि 'पुरुष' तथा 'प्रधान' के मध्य तादात्म्य की भ्रांति की रचना करती है, विवेक के द्वारा उनकी विभिन्नता को भी प्रगट करती है जोकि अस्थायी रूप में दृष्टि के ओट हो जाती है और प्रधान अपने प्रयोजन की सम्पूर्ति के पश्चात् अलग हट जाती है।[4] किन्तु यदि दो वस्तुयें एक दूसरे से समग्ररूपेण स्वतन्त्र और पूर्णरूपेण विपरीत जातीय हैं तथा अनन्त भी हैं, तो उनके मध्य किसी भी प्रकार का सान्निध्य या निकटता का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। सान्निध्य का सम्बन्ध सामान्यतः एक प्रासरिक या सामयिक धारणा है जो कि दो सान्त तथा परिमित वस्तुओं के मध्य ही हो सकता है और ये दृष्टान्त, जो कि मुख्यतः भौतिक हैं, केवल कठिनाई को और बढ़ाते ही हैं। 'पुरुष' और 'प्रधान' जो कि दोनों ही अनन्त नित्य और सर्वव्यापी हैं, किस प्रकार एक दूसरे के समीपी हो सकते हैं? इस कारण ही वाचस्पति ने सुझाव दिया है कि इस सन्निकट्य का प्रासरिक या सामयिक सम्बन्ध नहीं समझा जाना चाहिये। उनके अनुसार यह योग्यता का एक प्रकार या प्रकृति'

---

१ कारिका पर तत्त्व कौमुदी २७।

२ कारिका पर तत्त्व कौमुदी २३।

३ कनारदी, १ ४ तथा कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' आत्मवाद से भी तुलना कीजिये।

४ कारिका, ६१ सांख्य प्रवचनसूत्र ३, ७०।

और 'पुरुष' के मध्य वह औचित्य है जो कि सहयोग तथा संसर्ग को सम्भव बनाता है। और इस तरह इस कठिनाई का हल करने के हेतु, साधन और साध्य' के एक नवीन प्रकार के सम्बन्ध का आविष्कार किया गया है।

यह प्रतिपादित किया जाता है कि प्रकृति का गठन कुछ इस भाँति हुआ है कि जैसे वह 'पुरुष' का प्रयोजन पूरा करने को ही बनी है जिसके लिए कि अपने प्रयोजन को पूरा करना आवश्यक है।[1] बाद में हम देखेंगे और विचार करेंगे कि क्या 'प्रधान' के लिए जोकि अचेतन है, चेतन पुरुष के किसी प्रयोजन को पूरा कर सकना सम्भव है?

(२) 'पुरुषार्थ' की द्वितीय परिकल्पना के अनुसार 'पुरुष' तथा प्रकृति' के मध्य निरन्तर रूप से क्रियाशील एक अचेतन हेतु पुरुषार्थ का अस्तित्व है और दोनों एक दूसरे की पारस्परिक आवश्यकता के कारण समीप आते हैं। उनका सम्मिलन लँगड़े और अन्धे व्यक्ति के मिलन की भाँति है।[2] आत्मा का उद्देश्य *अचेतन प्रकृति की क्रियाशीलता का प्रधान हेतु है*[3] पुरुषार्थ स्व हेतु है। इस प्रश्न पर कि एक अचेतन वस्तु में आत्मा का उद्देश्य उसकी अन्त प्रेरणा की भाँति किस रूप में निहित हो सकता है, सांख्यकारिका (५७) का सुझाव है कि जड़ प्रकृति एक सुनिश्चित अन्त की ओर ठीक उसी प्रकार क्रियाशील होती है जिस प्रकार कि बच्चे के पोषण के लिए अचेतन दूध प्रवाहित होता है।[4]

इस कारण अचेतन प्रकृति चेतन के प्रयोजन की सिद्धि के लिए साधन की तरह कार्य करती है तथा दोनों के मध्य जो सम्बन्ध है वह साधन तथा साध्य का है। किन्तु यह पूछा जा सकता है कि जड़ प्रकृति का हेतुवाद, पुरुष के सर्वहितों की सेवा के श्रेष्ठतम समग्र प्रकार की सुरक्षा के लिए, किस प्रकार से विकास को उसके समग्र विशिष्ट विस्तार में निर्देशित तथा अनुप्रेरित कर सकता है?

इस स्थिति में दुहरी कठिनाई है। चेतन वस्तु के लिए वस्तुतः किसी प्रकार का अन्त प्रस्तावित नहीं किया जा सकता क्योंकि पुरुष सदैव ही 'केवल' तथा मुक्त' है। बद्धता तथा मुक्ति को उसके प्रति उसी प्रकार आरो

१ योगभाष्य २ २०।

२ सांख्यकारिका २१।

३ कारिका पर तत्व कौमुदी ३१।

४ कारिका ५७।

पित किया जाता है जिस प्रकार कि विजय या पराजय को राजा पर किया जाता है।[२] और जबकि चेतन वस्तु को किसी प्रकार की सेवा की आवश्यकता नहीं है तब अचेतन वस्तु को उस सेवा के लिए अन्त प्रेरित नहीं किया जा सकता है, और यदि चेतन वस्तु का वस्तुत हो किसी प्रकार की सेवा की अपेक्षा होती तो भी अपनी अचतना तथा बुद्धि एव हतु के अभाव के कारण अचतन या जड प्रकृति उसकी सेवा कर सकने या उसके प्रयोजन को पूरा कर सकने की स्थिति मे नहीं हो सकती थी। अचेतन आधार पर साधन और साध्य का सम्बन्ध मानना बहुत युक्तिपूर्ण नहीं हो सकता है यदि हम हेतुवाद की स्थिर सफलता के लिए किसी अधिक गहरे कारण की खोज नहीं करते हैं। वह विचित्र मार्ग, जिसमें कि जड़ और चेतन तत्व एक दूसरे की सहायता करते हैं, स्पष्टरूप से यह प्रदर्शित करता है कि तथाकथित तत्व एक ही अद्वी के अश हैं, तथा पारदर्शी द्वत स्वय के पार की किसी एकता या अद्वत पर आश्रित और आधारित है।[२] साख्य के अचेतन हेतु वाद का इस गहनतर चेतना की ओर निर्देश करना चाहिये जिसके अन्तगत ही कि केवल, पुरुष तथा प्रकृति दोनो की प्रयोजनसिद्धि या तृप्ति घटित हो सकती है।

किन्तु सांख्य दशन म पुरुष तथा प्रकृति दोनो स उच्चतर इस प्रकार की किसी शक्ति का नितांत अभाव है। वाचस्पति ने अवश्य ही ईश्वर का इस प्रकार की शक्ति की भांति खोज निकाला है। वह हम पूव स्थापित सामजस्य की अन्तिम प्रतिभू की तरह ईश्वर की धारणा पर लाते हैं[३] और चेतन पुरुष तथा जड प्रकृति के मध्य पूवस्थापित सामजस्य की एक परिकल्पना प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुसार कि इन दो स्वरूपत विपरीत तत्वो का मिलन एक सुनिश्चित एव सप्रयोजन दिशा ग्रहण करता है, अन्यथा काई कारण नहा दीखता है कि गाय का शरीर ठीक उसी प्रकार से क्मे बनाया जा सकता है या बनाया जाना चाहिये कि उससे ठीक उसी प्रकार का दूध प्राप्त हो सके जो कि मानवीय बालक के शरीर के लिए अत्यधिक उपयुक्त सिद्ध होता है। अचतन प्रधान की क्रियात्मकता को एक पूवनिर्धारित योजना के द्वारा सुनिश्चित रूप से प्रतिभूत कर दिया गया है, जिसके अनुसार कि वह केवल उन्हीं धाराओ तथा मार्गों म कार्य करता है जो कि एक विशेष प्रयोजन की निश्चित प्रगति के साथ उचित सिद्ध होने को बाध्य हैं। अतएव आवश्यकता तथा अचेतन सेवा के मध्य समायोजन तथा सहयोग होना आवश्यक है और इस

१ योगभाष्य २ १८ तथा १ २४।
२ इण्डियन फिलासफी, भाग २, पृष्ठ ३१२।
३ तत्व कौमुदी ४ १।

लिए आत्मा या उसके विषयों के साथ एक पूर्वस्थापित सामजस्य के द्वारा सहसम्बन्धित बनना भी अत्यन्त आवश्यक है, जिसे कि दोनों से श्रेष्ठ और अधिक विस्तृत शक्ति द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इस पूर्वस्थापित सामजस्य के कारण आत्मा बाह्य विषयों का द्रष्टा हो सकता है, जो कि प्रतीत (प्रकाशते) होते हैं कि जैसे वे उस सीमा तक ही आत्मा के बाह्य विषय हैं जहाँ तक उन्होंने आत्मा के प्रतिबिम्ब को प्राप्त कर लिया है। विषयी तथा विषय के मध्य औचित्य या सहसम्बन्ध ('योग्यता') की प्रतिभू है। वाचस्पति द्वारा सामजस्य के इस सिद्धांत को 'सन्निधिमात्र' की परिकल्पना की उसके द्वारा की गई व्याख्या तथा निरूपण से ही विकसित किया गया है। उनका कथन है कि 'यह सान्निकन्ध्य एक प्रासंगिक या सामयिक सहसम्बन्ध नहीं है बल्कि सान्निध्य का विशेष लक्षण यह है कि आत्मा मनस् वस्तु से एक पूर्व स्थापित सामजस्य के सम्बन्ध में अवस्थित है।'[1]

सांख्य योग में ईश्वर की परिकल्पना

प्रधान' की सक्रिय अचेतन तथा पुरुष की अक्रिय चेतना के मध्य 'योग्यता या औचित्य के बंधन' की एकता की यह परिकल्पना, दूध तथा बालक के दृष्टांत में सांख्यकारिका द्वारा प्रस्तावित नहीं की गई है। किन्तु वाचस्पति, विज्ञान भिक्षु तथा नागेश आदि बाद के विचारक, पुरुष की आवश्यकता तथा प्रकृति की क्रियाओं के मध्य सामजस्य का उत्तरदायित्व ठहराना असंभव पाते हैं और इसलिए प्रकृति के विकास को निर्देशित करने के कार्य को ईश्वर पर आरोपित करते हैं।[2]

चक्षुविहीन व्यक्ति तथा पंगु व्यक्ति के सम्मिलन का दृष्टांत दोनों के मध्य सामजस्य की एक सप्रयोजन संभावना के लिए अवश्य ही सहायक सिद्ध हो सकती है जिसके अभाव में कि वे किसी भी रूप में सम्मिलित तथा सहयोगी नहीं हो सकते।[3] उनके मिलन के लिए सप्रयोजन सामजस्य का होना अति आवश्यक है। किन्तु अपंग और चक्षुविहीन व्यक्ति दोनों ही बुद्धिमान प्राणी हैं और पारस्परिक बौद्धिक चर्चा से उभय हित के बिन्दुओं को खोज सकते हैं तथा साभिप्राय इकट्ठे हो सकते हैं। किन्तु पुरुष और प्रधान की स्थिति ऐसी नहीं है क्योंकि प्रधान सक्रिय है किन्तु अचेतन है जब कि पुरुष चेतन तो है

---

१ कनारदी १ ४।

२ तत्व वैशारदी ४ ३।

३ कारिका २१।

किन्तु सक्रिय नहीं है। इन दोनों का मिलन उसी स्तर पर नहीं हो सकता है जिस स्तर पर कि अन्धे और लँगड़े व्यक्ति का हो सकता है। किन्तु यहीं एक नवीन प्रश्न और उठ खड़ा होता है।

यदि चेतन सिद्धांत पुरुष) का यथार्थ स्वरूप केवल 'कैवल' तथा एकाकी है[१] तब 'पुरुष' का पूर्वनिर्धारित सहसम्बन्ध भी प्रकृति के साथ किस प्रकार घटित हो सकता है? इस प्रश्न का सांख्ययोग दर्शन द्वारा दिया गया उत्तर यह है कि सहसम्बन्ध की उत्पत्ति के सम्बन्ध के प्रश्न स्वीकृति के योग्य नहीं हैं क्योंकि जड़ तथा चेतन के द्वैत का यह सम्बन्ध, बीज तथा वृक्ष के अनुक्रमी क्रम[२] की तरह आदिहीन है। इस स्थल पर यह स्पष्ट है कि 'सम्बन्ध के सम्बन्ध में प्रस्तावित द्वैतवादी तथा अद्वैतवादी दोनों परिकल्पनायें सबंध को, समन्त मानते हुए भी अनादि बनाने में पूर्णरूपेण सहमत हैं। शंकर के अद्वैतवाद में माया अनादि है और उसी प्रकार सांख्य योग द्वैतवाद में 'प्रकृति' तथा पुरुष की प्रस्तावित एकता का भी कोई प्रारम्भ नहीं है। किन्तु चेतन तथा जड़ तत्वों के मध्य सम्बन्ध के सिद्धांत की अनादित्व की यह स्थिति भी कठिनाइयों से मुक्त नहीं है और इन कठिनाइयों को 'पुरुष या आत्मा' की मुक्ति के समय या 'सम्बन्ध के अन्त' के समय पूरे रूप में अनुभव किया जाता है। 'माया', अविद्या या अविवेक का अन्त उसके अनादि स्वरूप के साथ किस भाँति संगतिपूर्ण हो सकता है? क्योंकि या तो 'पुरुष' कभी भी बद्ध नहीं है और उस स्थिति में किसी भी अन्य वस्तु से उसका कोई सम्बन्ध कभी भी नहीं हो सकता, जैसा कि वाचस्पति मिश्र ने निर्दिष्ट किया है[१], या फिर वह पुनः पुनः बद्ध तथा मुक्त होता है। इस प्रकार बंधन या अमुक्ति या तो नित्य है या अनादि नहीं है।

यह भी स्पष्ट नहीं है कि पूर्व स्थापित सामंजस्य का सिद्धांत जड़ तथा चेतन के कठोर द्वैतवादी दृष्टिकोण पर खड़ा नहीं किया जा सकता है। उसके लिए प्रतिभू तथा सामंजस्य के आधार के रूप में एक अधिक शक्तिशाली और व्यापक तृतीय सिद्धांत की पूर्व प्रस्तावना अत्यन्त अपरिहार्य है। एक ओर जड़ प्रकृति चूँकि अपने जड़त्व के कारण सफल प्रयोजन सिद्धि के योग्य प्रतिपादित नहीं की जा सकती है तथा दूसरी ओर अक्रिय चेतना साध्यों के लिए इच्छा या प्रयास नहीं कर सकती

३ योगसूत्र १ ४ ४ २२ ३ ३५।
४ वाचस्पती २ १० तथा १ ४।
१ योगसूत्र २ १८ तथा सांख्यकारिका ६२।

है, इसलिए यह अनुसरित होता है कि साधनों और साध्यों के सहयोग के हेतु एक उच्चतर शक्ति का निरीक्षण तथा निर्देशन आवश्यक है। योग दर्शन का 'ईश्वर' इसी हेतु परिकल्पित किया गया है। वह चेतन पुरुष तथा अचेतन प्रकृति के मध्य समायोजन की पूर्णता का 'प्रतिभू' है। इस कार्य के अभाव में योग का 'ईश्वर' एक बिल्कुल अनावश्यक वस्तु ही सिद्ध हुई होती। किन्तु प्रधान के अन्धे हेतुवाद के लिए इस तरह की किसी परिकल्पना की अत्यन्त आवश्यकता है जिसके अभाव में कि साध्य तथा साधन के बीच का सम्बन्ध तथा पुरुष और प्रकृति के मध्य का पुरुषार्थ अव्यास्थित ही छूट जाते हैं। ईश्वर इन सम्बन्धों की प्रतिभू और आधार है।

सांख्य योग तत्वमीमांसा में वाचस्पति तथा विज्ञानभिक्षु के विशेष संदर्भ में अनुभव की समस्या

सांख्य योग दर्शन में, 'पुरुष' तथा 'प्रकृति' के स्वीकृत प्रतिद्वन्द्ववाद के आधार पर अनुभव तथा ज्ञान को न्यायोचित ठहराना एक कठिन समस्या रही है। यह सर्वस्वीकृति है कि सांख्ययोग की परम्परागत तत्वमीमांसानुसार, पुरुष तथा प्रकृति मौलिक रूप से हो अनुभव जगत् के बाहर है, जिसके पूर्व कि न पुरुष 'उपभोक्ता' है, न 'ज्ञाता' है और न प्रकृति 'उपयोगिता' है, न ज्ञान है। पुरुष कभी भी अनुभवकर्त्ता या प्रत्यक्ष द्रष्टा नहीं है क्योंकि वह सर्वत्र 'केवली' और 'दृग्मात्र'[1] है, तथा प्रकृति भी, इसके पूर्व कि वह देखी, भोगी या अनुभव की जा सके, पुरुष द्वारा सचेतन बनाये जाने के राह देखती है। सुस्पष्टता के हेतु हमें एक क्षण की कल्पना करनी चाहिए कि पुरुष तथा प्रकृति दो विपरीत अलियों पर अवस्थित हैं तथा दोनों के पास क्रमशः 'द्रष्टा' तथा 'दृश्य' या 'विषयी' और 'विषय' होने की क्षमतायें या बीजरूप सम्भावनायें हैं किंतु अभी तक कोई भी अनुभव का वास्तविक द्रष्टा या दृश्य, या विषयी और विषय नहीं हुआ है।

अब, एक अनुभवरहित सम्भाव्यता के अनुभवनिरपेक्ष दृष्टिबिन्दु से प्रारम्भ करने पर, यह प्रश्न सहज हो उपस्थित हो जाता है कि 'द्रष्टा' तथा 'दृश्य' की मात्र अनुभवातीत सम्भावनाएं द्रष्टा तथा दृश्य की व्यावहारिक यथार्थताओं मे किस भाँति रूपांतरित होती हैं या हो सकती हैं, जिसमें कि पुरुष का उन गुणों तथा लक्षणों का अपने ऊपर आरोपण आवश्यक है जो कि उसके 'स्व' रूप में वस्तुतः उससे सम्बन्धित नहीं होते हैं। इसी प्रश्न को इन शब्दों में भी रखा जा सकता है कि अनुभव का किंचित् अस्तित्व भी किस रूप में सम्भव है

1 योगसूत्र २ २० २ २३ २४ २५ ३ ३८।

तथा अनुभवातीत पुरुष से अनुभवाश्रित ज्ञाता तथा अनुभववर्ती म मूल या आदि पतन की व्याख्या किस प्रकार से की जा सकती है। सांख्ययोग में यह कठिन प्रश्न और भी कठिन होकर सामने आता है क्योंकि इस दर्शन प्रणाली म अनुभव के दो साझीदारों में से केवल एक प्रकृति ही है जिसे कि रूपान्तरित किया जा सकता है क्योंकि द्वितीय तत्त्व, 'पुरुष' को सदा नित्य रूप से अरूपान्तरित या 'अपरिणामी' की भाँति ही प्रतिपादित किया है।[१]

इस दर्शन प्रणाली में अनुभव की व्याख्या का भी एक इतिहास है जिसको हम यहाँ संक्षेप में रेखांकित कर रहे हैं। पतञ्जलि के सूत्रों से प्रारम्भ करके हम योग दर्शन में प्रस्तावित अनुभव की व्याख्या के चार महत्त्वपूर्ण प्रयासों को निर्दिष्ट कर सकते हैं जोकि अन्तिम प्रयास म भी अव्याख्यित ही शेष रह जाता है।

सूत्रों के प्रथम चरण म 'पुरुष' के अनुभव की बजाय जिसकी व्याख्या की गई है, पुरुष के अनुभवातीत तथा अनासक्त स्वरूप पर ही अधिक जोर दिया गया है। हमें केवल इतना ही बताया गया है कि 'दृश्य' तथा द्रष्टा की दो पूर्ण तथा भिन्न तथा पृथक् शक्तियों के स्वभावों के मध्य जब विवेकाभाव तथा भ्रांति होती है, तभी अनुभव घटित होता है। इस घोषणा के अतिरिक्त, जोकि हमारी वर्तमान समस्या के आधार या विधान करती है, कुछ भी अधिक नहीं कहा गया है कि पुरुष के अस्तित्व और सत्ता की स्थितियाँ या अवस्थायें क्या हैं एवं उसका सत् स्वरूप की जिसमें कि वह भ्रान्ति के पूर्व तथा विवेक के पश्चात् अस्तित्व में होता है, तथा दूसरी उसकी वृत्तियों सहित 'सारूप्यम्' की मिथ्या स्थिति जिसे कि वह भ्रान्ति के अन्तर्गत भूल से अपने ऊपर आरोपित कर लेता है।[२]

यह विवेकाभाव ठीक रूप से किस प्रकार स घटित होता है या भ्रान्ति के अस्तित्व में आने की प्रक्रिया कैसी है और कैसे सम्भव होती है, इसे प्राय अव्याख्यित ही छोड़ दिया गया है। यदि पुरुष वस्तुत द्रष्टा नहीं है, बल्कि 'दृक् शक्ति' मात्र है और प्रकृति भी भौतिक रूप से एवं वास्तविक 'दृश्य' नहीं है बल्कि देखे जाने की क्षमता मात्र है तब द्रष्टा तथा दृश्य होने की सम्भावना मात्र की, द्रष्टा तथा दृश्य होने की वास्तविकताओं म परिणति के कारणों को आगे खोजा जाना भी आवश्यक है।

१ योगसूत्र ४ १८।
२ योगसूत्र १ ३ ४।

इस महत् रूपान्तर का सर्वप्रथम कारण या हेतु निश्चय ही पुरुष के प्रयोजन या 'पुरुषार्थ'[1] की परिकल्पना में समाविष्ट करके समझाया गया है। पुरुषार्थ को किसी भी रूप में क्रियाकारी होना चाहिए किन्तु 'पुरुषार्थ' की परिकल्पना एक तात्कालिक या अपरोक्ष कारण के स्थान पर एक परम सिद्धान्त के स्वभाव की ही कहीं अधिक है। यह आगे भी पूछा जा सकता है कि 'पुरुष' तथा प्रकृति' के मौलिक स्वरूपों में 'पुरुषार्थ' परिवर्तन किस प्रकार लाता है? इस शंका का समाधान भी इस तरह किया गया है कि यह परिवर्तन 'पुरुष' तथा प्रकृति' द्वारा एक दूसरे के गुणों की पारस्परिक भ्रान्ति द्वारा होता है। सूत्रों में व्याख्या की प्रथम अवस्था यहीं समाप्त होती है, किन्तु 'अविद्या'[2] या विवेकाभाव की यह बहुधा पुनरुक्त परिकल्पना आगे भी निरन्तर विकसित परिवर्द्धित, परिमार्जित और परिष्कृत होती जाती है।

'सत्व' तथा 'पुरुष' के विपरीत स्वभावों के मध्य भ्रान्ति की व्याख्या को 'भाष्य' में, सूत्रों के निर्देशों में से, 'सान्निध्य के द्वारा संसर्ग' (सान्निधिमात्रेण) के आधार पर विकसित किया गया है, जोकि अनुभव की व्याख्या के प्रयास की द्वितीय व्यवस्था है। इस अवस्था में यह प्रतिपादित किया गया है कि पुरुष तथा प्रकृति का सान्निध्यमात्र, जोकि बीज रूप सम्भावनाओं के वास्तविकताओं में परिवर्तन का अत्यन्त तात्कालिक कारण है पुरुष को स्वामी तथा प्रकृति को 'स्व' के गुण प्रदान करता है, जिससे कि इस भ्रान्त विश्वास के द्वारा पुरुष अपने ऊपर ठीक उसी प्रकार उन रूप भेदों का आरोपित कर लेता है जो कि वस्तुतः प्रकृति से सम्बन्धित होते हैं, जिस प्रकार कि कोई लाभ या हानि का स्वयं अपनी ही मान लेता है जो कि वस्तुतः उसकी मिल्कियत के साथ घटित होती है। यदि चैत्र की गायें मर जाती हैं, तो वह स्वयं अपने ऊपर दरिद्रता के लक्षणों को ग्रहण कर लेता है। उसी प्रकार राजा जय या पराजय को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है[3], जोकि वास्तविक रूप से उसकी सेना से सम्बन्धित है।

इन दृष्टान्तों का अन्तर्गर्भित अर्थ स्पष्टतः यह है कि चैत्र, उसकी गायों की मृत्यु के कारण, अपने 'स्वरूप' में दरिद्र नहीं होता है और न ही राजा स्वयं अपने में विजेता या पराजित होता है। यद्यपि यह स्वीकार नहीं किया जा

---

१ योगसूत्र २ २४।
२ योगभाष्य २ १६।
३ योगभाष्य २ १८।

सकता कि चत्र की व्यावहारिक आत्मा उसकी गायों की मृत्यु से निश्चय ही दरिद्र हो जाती है तथा राजा अपनी सेना की जय और पराजय से जय और पराजय पाता है तथापि इस अस्वीकृति से उपयुक्त दृष्टान्तों में निहित अभिप्राय का कोई विरोध नहीं होता है। वह अब व्यावहारिक आत्मा से सम्बन्धित नहीं है। इन दृष्टान्तों का वास्तविक अर्थ यह है कि चत्र तथा राजा की, उनकी व्यावहारिक आत्मा के अतिरिक्त, एक और सत्यतर आत्मा भी है जो कि उनके 'स्वामित्व के क्षेत्र में घटनेवाली इन घटनाओं से कतई प्रभावित नहीं होती।' 'स्वामित्व' के व्यावहारिक क्षेत्र में जो कुछ घटित होता है, 'स्वामी' पर उसके प्रभाव की मात्रा स्वामी तथा स्वामित्व' के स्वभावों के मध्य भ्रान्ति तथा उस आधार पर निर्भर क्रमागत तादात्म्यीकरण की मात्रा पर निर्भर होती है। यह निश्चय के साथ कहा गया है कि एक अनिवार्य सान्निध्य के द्वारा प्रस्तुत इस शोचनीय भ्रान्ति के विनाश की क्रमिक प्रक्रिया द्वारा, 'पुरुष' में सत् स्वभाव को पुनः उपलब्ध किया जा सकता है जो कि तब, एक 'स्वामी तथा 'प्रत्ययानुपश्य' का नहीं, बल्कि मात्र 'एक केवली तथा दृग्मात्र' का होता है। इस स्थल पर, पुरुष की पुनः कैवल्य प्राप्ति की विपरीत प्रक्रिया किस प्रकार घटित होती है इससे हम कतई सम्बन्धित नहीं हैं। हमारा सम्बन्ध यहाँ उस पूर्वतर प्रक्रिया से ही है जिसके द्वारा कि मौलिक कैवल्य दर्शन तथा भोगन के वास्तविक अनुभव में विनष्ट या पतित होता है। यह कैसे सम्भव होता है, यही हमारी जिज्ञासा है क्योंकि असांख्ययोग की मौलिक तत्त्वमीमांसक स्थिति पुरुष और प्रकृति के पूर्ण प्रथकत्व की है न कि एक अनादि या नित्य अनुभव (भोग) की।

भाष्य भी, पुरुष के दो स्वभावों या भावोंयस्वामों की 'शुभ' स्थिति का स्वीकार करते हैं एक स्वरूप की स्थिति जिसमें कि वह अनुभव की अस्थिर बाधा से पूर्णरूपेण मुक्त और अतीत होता है तथा दूसरी 'स्वामित्व' की अविवेक या भ्रान्ति पर आधारित स्थिति, जोकि अनिवार्यतः व्यावहारिक परिवर्तनों तथा अस्थिरताओं के अधीन है। भाष्य' पुरुष तथा प्रकृति के 'सारूप्य की भ्रांति का चुम्बक तथा लौहकणों के दृष्टान्त के आधार पर, 'सान्निध्य' की परिकल्पना से समझाने का प्रयास करता है, जिसमें कि सान्निध्य मात्र के तथ्य से प्रभाव एक से दूसरे तत्व में अनिवार्यतः प्रभावित होता है। किन्तु जैसा कि बाद में प्रदर्शित किया जाएगा, नित्य तथा निरपेक्ष 'सान्निध्यमात्र' की इस प्रकार की परिकल्पना में, सबको नित्य बना देनेवाली अनेक गुरुतर कठिनाइयाँ सन्निहित हैं।

अब प्रश्न यह है कि पुरुष में दो स्वभाव हैं या एक ही ? यदि उसके दो स्वभाव हैं अर्थात् एक केवल तथा अनुभवनिरपेक्ष स्वरूप का तथा दूसरा 'स्वामित्व' तथा व्यावहारिक अनुभवकर्ता का तब यह पूर्णरूप से पृथक या 'केवली' न कभी होता है और न हो सकता है और यदि उसका केवल एक ही स्वरूप है, तब वह स्वामित्व के दूसरे स्वभाव की प्राप्ति किस भाँति करता है या कर सकता है ?

'भाष्य' इस प्रश्न से सम्बन्धित स्थिति को यहीं छोड़ देता है। यह स्पष्ट ही है कि भाष्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त को अभी और भी विकसित किया जाना आवश्यक है जिससे कि प्रस्तावित सान्निध्य के द्वारा पुरुष तथा प्रकृति के स्वरूपों की एक दूसरे पर मिथ्यारोपण की भ्रान्ति या अनुभव के घटने की प्रक्रिया को ठीक रूप से समझाया जा सके। सान्निध्यमात्र से इस प्रकार की भ्रान्ति क्यों घटित होती है ? क्या, यदि दो पदार्थ एक दूसरे के निकट स्थित हैं तो उन्हें अनिवार्यतः यह सोचना ही चाहिए कि वे एक दूसरे के स्वभाव को लिए हुए हैं ? निकटता मात्र के कारण यह आवश्यक क्यों है कि एक दूसरे के स्वभाव को अपने पर मिथ्या रूप से आरोपित कर लें।

इस प्रकार हम वाचस्पति मिश्र पर आते हैं जो कि अनुभव की व्याख्या के प्रयास की तृतीय अवस्था के प्रतिनिधि हैं। वाचस्पति सान्निध्यमात्र की धारणा को सत्व में निहित 'पुरुष के प्रतिबिम्ब को पकड़ने की एक क्षमता विशेष की तरह निरूपित करते हैं जोकि अनुभव का आधार है। हमें अब तक उस प्रक्रिया का कोई विस्तृत निर्देश नहीं दिया गया था जिसके द्वारा कि पुरुष तथा प्रकृति के स्वभावों के सम्बन्ध में क्रमशः अनिवार्य भ्रान्ति घटित होती है। किन्तु वाचस्पति के साथ विस्तृत निरूपण प्रारम्भ होता है। वह सोचते हैं कि सान्निध्य से प्राकृतिक या सामयिक निकटता को नहीं समझा जाना चाहिए। उनके अनुसार सान्निध्य की धारणा से केवल एक सम्भाव्य 'योग्यता' का अर्थ ही प्रयोजित है जिससे कि एक तत्व दूसरे तत्व में अपना प्रभाव को प्रभावित करने तथा उसे पकड़ने में समर्थ हो पाता है।[१] यह स्पष्ट ही है कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अन्य वस्तु से केवल निकट स्थान में ही कारण उस विशेष योग्यता के अभाव में जिससे कि वह प्रभावित होती है और प्रभावित कर सकती है प्रभावित नहीं हो सकती है। जबकि चुम्बक लौहकरण को आकर्षित करता है और लौहकरण अपने को आकर्षित होने देते हैं तब दूसरा कोई पदार्थ न तो चुम्बक से आकर्षित हो होगा और न चुम्बक ही उसे आकर्षित करता। उन दोनों में मध्य भी पारस्परिक 'योग्यता' का ऐसा ही बन्धन है जिसके कारण ही कि पुरुष के 'केवल', अनुभवनिरपेक्ष तथा ... तथा

के अनुभवनिरपेक्ष दृश्य' और अचित होने पर भी, जड़ या अचेतन सत्व अनुभवातीत पुरुष का प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ है जाकि उसे ढालने में समर्थ है। सत्व को ठीक उसी प्रकार पुरुष के साथ उसके संसर्ग के द्वारा सचेतन किया जा सकता है, जिस भाँति कि चमकहीन जल, जिसमें कि चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की क्षमता या योग्यता निहित है (जो कि अन्य पदार्थों में नहीं है) चन्द्रमा के उसमें प्रतिबिम्बित होने के कारण चमकता हुआ प्रतीत होता है।

वाचस्पति सोचते हैं कि ठीक जिस प्रकार सुदूरस्थ, पृथक् और अनासक्त चन्द्रमा अपनी दीप्ति मात्र से नदी के जल को भी दीप्ति की अवस्था में ला देता है और स्वयं इस घटना से अप्रभावित रहते हुए नदी कि अस्थिरताओं का निरीक्षण (अनुपश्यति) करता है उसी प्रकार बुद्धि के सत्व में पुरुष का प्रतिबिम्ब भी घटित होता है जिसके कारण कि बुद्धि अपने ऊपर, अपराक्ष बुद्धिमान् तथा चेतन कर्ता या ज्ञाता का स्वभाव आरोपित कर लेती है। अनुभवातीत पुरुष किसी भाँति इस समग्र घटना में परोक्ष निरीक्षक या द्रष्टा मात्र ही बना रहता है।

अनुभव की इस व्याख्या को विज्ञानभिक्षु की इसके बाद आनेवाली व्याख्या से भेद करने के हेतु इकहरे प्रतिफलन का सिद्धान्त कहा जा सकता है, जिसेकि दुहरे या पारस्परिक प्रतिफलन का सिद्धान्त कहा जाएगा। इस परिकल्पना के एक विशेष लक्षण को ध्यान में रखना आवश्यक है जब कि इसके अनुसार अचेतन बुद्धि सचेतन तथा अनुभवकर्ता बनाई जाती है, तब पुरुष एक अनुभवातीत 'दृग्शक्ति' मात्र ही बना रहता है। यह स्वरूपतः अचेतन तथा अब चेतना बनी हुई बुद्धि ही है न कि 'पुरुष' जो कि इस परिकल्पनानुसार वस्तुतः ज्ञाता, भोक्ता तथा कर्ता है।

वाचस्पति की इकहरे प्रतिफलन की इस गणना के आधार पर हम अचेतन बुद्धि को वास्तविक ज्ञाता तथा कर्ता बनाने में सफल हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु यह पूछना आवश्यक है कि इस परिकल्पना के अन्तर्गत पुरुष की स्थिति क्या है? क्या वह अभी भी अपने अनुभवातीत स्वभाव में है या वह भी बुद्धि की तरह ही किसी प्रकार से प्रभावित हुआ है। वाचस्पति का उत्तर है कि पुरुष अभी भी क्षमता या 'दृग्मात्र' ही है तथा उसकी स्थिति अनुभवातीत या अनुभव निरपेक्ष और अनुभवहीन है। बुद्धि के लिए तो अनुभव को सम्भव बना लिया गया है किन्तु पुरुष के लिए नहीं जो कि अभी भी 'स्वामी' नहीं

है। पुरुष के लिए अनुभव को सम्भव बनाने के हेतु यह अभी भी आवश्यक है कि बुद्धि के अनुभवों को पुरुष के लिए अपने ही अनुभव की तरह मानने की भूल तथा भ्रान्ति घटित हो, जिसके लिए कि परिकल्पना में पूर्व विधान नहीं किया गया है।

इस स्थल पर यह उपयोगी होगा कि हम अपने पूर्व दृष्टान्त पर लौटकर कल्पना करें कि चन्द्रमा जब स्वच्छ जल पर अपना प्रतिबिम्ब डालता है, तब प्रतिबिम्बित जल अपने आपको सक्रिय सचेतन ज्ञाता तथा जल के साथ जो कुछ घटित होता है उसका कर्त्ता सोचना प्रारम्भ कर देता है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि अचेतन यद्यपि सक्रिय जल, जो कि प्रतिबिम्ब के पूर्व चेतना से हीन था, अब प्रतिबिम्ब के पश्चात् चेतना से युक्त हो गया है। किन्तु इससे चन्द्रमा किसी भी रूप में अनुभवकर्त्ता या कर्त्ता नहीं बनता। इसमें प्राप्ति केवल एक तरफा है। अचेतन बुद्धि, जो कि सदैव ही सक्रिय, गतिमय तथा जड़ थी, अब 'चित्शक्ति' के साथ संयोग के कारण उस चैतन्य से सम्पन्न हो गई है जिसका कि इसके पूर्व उसमें नितान्ताभाव था। वह अब इस तरह है जैसे कि वह चेतन कर्त्ता है। इकहरे प्रतिबिम्ब के इस संसर्ग से पुरुष को अभी तक कोई लाभ या हानि नहीं होती है। वह अभी भी देखने के वास्तविक अनुभव से रहित, केवल देखने की सम्भाव्य शक्ति की तरह ही अस्तित्व में है। इस कारण को कि, बुद्धि की अस्थिरताओं को पुरुष के द्वारा अपनी ही मानकर अपने ऊपर आरोपित करने की भूल क्यों करनी चाहिये, अभी अव्यवस्थित ही छोड़ दिया गया है जो कि संयोगवशात् अनुभव के घटित होने के लिए नितांत आवश्यक है। चन्द्रमा को, इस कारण मात्र से ही कि वह स्वच्छ जल पर प्रतिबिम्बित होता है, जल की अस्थिरताओं को अपने पर आरोपित करने तथा उससे दुख पाने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह प्रमाणित करना सांख्ययोग विचारकों की एक प्रिय परिकल्पना रही है कि सक्रिय वस्तु को यदि वह अचेतन है तो कर्त्ता नहीं कहा जा सकता, तथा चेतन वस्तु को भी, यदि वह निष्क्रिय है तो कर्त्ता नहीं पुकारा जा सकता है। और इसलिए, अब जबकि प्रतिबिम्ब द्वारा सक्रिय किन्तु जड़ बुद्धि सचेतन हो गई है तब अक्रिय चेतना को भी उसके पारस्परिक प्रभाव की प्रक्रिया को पूर्ण करने के हेतु, सक्रिय बनाया जाना आवश्यक है। पुरुष तथा बुद्धि के मध्य योग्यता' के बन्धन के कारण, बुद्धि पर पुरुष के इकहरे प्रतिफलन का वाचस्पति का सिद्धांत, यद्यपि व्यास की सान्निधिमात्र की परिकल्पना पर एक सुनिश्चित तथा सुस्पष्ट विकास है तथापि यह अनुभव को उसकी पूर्णता में उचित रूप से संभव नहीं बनाता जो 'भाष्य' के प्राथमिक वक्तव्यानुसार

बुद्धि से सबंधित गुणों को पुरुष द्वारा स्वयं अपने ऊपर ग्रहण किये जाने में निहित होता है। यह कहा जा सकता है कि जबकि वाचस्पति ने अचेतन बुद्धि को तो सचेतन बना दिया है वहीं उन्होंने अभी तक पुरुष की अनुभव निरपेक्ष शक्ति का अनुभवाश्रितीकरण या पौद्गालीकरण नहीं किया है, जब कि ये दोनों ही प्रक्रियायें अनुभव के लिए अनिवार्य हैं।

इस तरह हम सांख्ययोग में अनुभव के सिद्धांत के विकास की चतुर्थ तथा अन्तिम अवस्था अर्थात् विज्ञानभिक्षु के दोहरे या परस्पराश्रित प्रतिफलन के सिद्धान्त पर आते हैं।'

विज्ञानभिक्षु का मानना है कि अनुभव का घटित होना सम्भव हो सके इस हेतु बुद्धि के 'सत्व' पर अनुभवातीत पुरुष के प्रतिबिम्ब का घटित होना ही केवल पर्याप्त नहीं है बल्कि प्रतिबिम्बित बुद्धि का पुरुष पर प्रतिबिम्बित होना भी आवश्यक है जबतक कि सचेतन बनी बुद्धि अपनी बारी में पुरुष पर प्रतिबिम्बित नहीं होती तबतक पुरुष का बुद्धि की अस्थिरताओं तथा लक्षणों को स्वयं अपना मानने की भ्रान्ति करने का कोई अवसर नहीं है। इस तरह विज्ञानभिक्षु के अनुसार पुरुष तथा प्रकृति के मध्य योग्यता के मौलिक बन्धन के कारण एक का दूसरे पर परस्पराश्रित प्रतिफलन होता है जिसके आधार पर ही कि अनुभव की समुचित व्याख्या की जा सकती है। जब पुरुष बुद्धि पर अपना प्रतिबिम्ब डालता है तथा उसे सचेतन बनाता है, तब प्रतिबिम्बित बुद्धि भी अनुभवातीत पुरुष पर अपना प्रतिबिम्ब डालती है तथा उसे अनुभवाश्रित बनाती है। यह पारस्परिक प्रतिफलन की क्रिया प्रकृति पर चेतना तथा चेतना पर प्रकृति के गुणों के *मिथ्यारोपण या स्थानान्तरण* की ओर ले जाती है और इस प्रकार अनुभव अनुसरित होता है। अनुभवातीत पुरुष पर बुद्धि के इस प्रतिबिम्ब के कारण, पुरुष बुद्धि की अस्थिरताओं को अविवेकपूर्ण ठीक उसी प्रकार अपना समझ लेने की भ्रान्ति करता है जिस प्रकार कि अग्नि प्रतिबिम्बित जल भी पुनः चन्द्रमा में प्रतिबिम्बित हो तो चन्द्रमा जल की गतिमयता का स्वयं अपनी गतिमयता मान लेता है।

इस प्रकार हम स्पष्टरूप से देख सकते हैं कि पातञ्जलि-सूत्रों में निर्दिष्ट 'द्रष्टा' तथा 'दृश्य' के स्वभावों की भ्रांति की ओर लेजाने वाला 'प्रकृति तथा पुरुष की अनुभवातीत शक्तियों का संसर्ग, क्रमशः व्यास द्वारा अपने भाष्य' में 'सान्निध्यमात्र' की परिभाषा से वाचस्पति मिश्र द्वारा अपनी 'वैशारदी' में बुद्धि पर पुरुष के इकहरे प्रतिफलन के सिद्धांत से और अन्तत

१. योग वार्तिका १ ४ ३ ३१।

विज्ञानभिक्षु द्वारा अपनी 'वर्तिका एक पर दूसरे के परस्पर प्रतिफलन के सिद्धांत द्वारा किस प्रकार समझाया तथा निरूपित किया गया है। इस परिकल्पना के विकास की हमारी गणना म यह देखा गया होगा कि अधिक से और अधिक सगतिपूर्णता की ओर विकसित होते इस सिद्धात की वृद्धि की विभिन्न अवस्थाओं मे पूर्वतर तथा प्राचीनतर धारणाओ का कभी अस्वीकृत नही किया गया है। व्यास वाचस्पति तथा विज्ञानभिक्षु में सिद्धात का क्रमश विकास पूवतर परिकल्पना के और अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता से प्रेरित होकर ही हो जाता है और इस कारण ही पूवतर धारणा को सब स्थितियों मे नवीन धारणा के लिए आधार की तरह ग्रहण किया जाता रहा है।

किन्तु साख्ययोग तत्वमीमांसा के विद्यार्थी के लिए उस प्रभाव का निरीक्षण तथा अध्ययन ही अत्यन्त महत्ता का विषय है जोकि उत्तरोत्तर सिद्धातो द्वारा, जैसे ही वे अधिकाधिक सगत होते चलते हैं, सांख्ययोग की पूवतर कठोर तथा अनुभवातीत द्वैतवाद की मौलिक स्थिति पर डाला जाना अनिवार्य होता जाता है। हम पाते हैं कि बाद की परिकल्पनाओं म पुरुष तथा प्रकृति के मध्य मौलिक अनुभयनिरपेक्षवाद मे क्रमश न्यूनता आती जाती है, तथा उन तथ्यों से समझौता कर लिया जाता है जो कि सांख्ययोग की कठोर द्वैतवादी स्थिति पर चोट पहुँचाते हैं। 'सूत्र तथा 'भाष्य' की पूवतर प्रस्तावनाओं म जिनका स्वरूप कि अभी तार्किक दृष्टि से बहुत निश्चित और रेखाबद्ध नहीं है पुरुष के अनुभवातीत स्वभाव का 'चित शक्ति' की तरह और न कि 'द्रष्टा की तरह अस्पर्शित तथा बिना आपत्ति मे डाले हुए ही अनुभव की व्याख्या करने का प्रयास किया गया है। वाचस्पति का बुद्धि पर पुरुष के इकहरे प्रतिबिम्ब का सिद्धांत भी अनुभवनिरपेक्ष पुरुष के 'केवल स्वरूप तथा उसके अनुभव प्रदेश से पूर्णतया बाह्य होने की सांख्ययोग दर्शन की परम्परागत भावना मे अनुरूप ही है क्योंकि पुरुष अपने प्रतिफलन के द्वारा बुद्धि को सचेता बनाने मे अक्रिय और अवक्ता ही बना रहता है। वह अभी भी वास्तविक ज्ञाता या अनुभव कर्ता नहीं है। वाचस्पति ने अपने इकहरे प्रतिफलन के सिद्धात के द्वारा, पुरुष के अपरिणामी, अपरिवर्तनशील अनुभवहीन तथा केवली स्वरूप को शेष रखते हुए भी, जिसे कि सदैव ही सांख्ययोग का शास्त्रीय दृष्टिकोण घोषित किया गया है, अनुभव को सभव बनाने के कठिन काय को करने का अन्तिम प्रयास किया है। किन्तु, हमे अभी तक पुरुष, बुद्धि की वृत्तियो को अपनी मानने की भूल करता हुआ नहीं मिलता, अपि,

यदि अनुभव और ज्ञान को पुरुष के पक्ष में उचित रूप से समझाया जाता है, तो उसके द्वारा होना अत्यन्त आवश्यक है।

विज्ञानभिक्षु में अवश्य ही हम पुरुष के अनुभवनिरपेक्ष स्वरूप की मौलिक स्थिति के वास्तविक परित्याग पर आते हैं, क्योंकि उनकी परिकल्पनानुसार पुरुष न सिर्फ सत्व पर अपना प्रतिबिम्ब ही फेंकता है, बल्कि अपनी बारी में प्रतिफलित सत्व के प्रतिबिम्ब को अपने पर स्वीकार भी करता है। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु का पुरुष एक व्यावहारिक आत्मा से किसी भाँति भिन्न या श्रेष्ठतर नहीं है। उसका स्वरूप 'द्रष्टा और 'भोक्ता' के स्वरूप से अन्य नहीं है क्योंकि विज्ञानभिक्षु के अनुसार, प्रकृति तथा पुरुष का संबंध नित्य और शाश्वत है। इस स्थल पर यह प्रश्न सहज ही पूछा जा सकता है कि तब पुरुष के नित्य केवली स्वरूप का क्या होता है?

विज्ञानभिक्षु का सिद्धांत, असंदिग्ध रूप से, अनुभवातीत पुरुष म अनुभवाश्रितीकरण की अधिकतम संगतिपूर्ण व्याख्या है किन्तु इस संगति को पुरुष के अनुभव निरपेक्ष स्वरूप के बलिदान के मूल्य पर ही प्राप्त किया जा सका है। यह प्रतीत होता है कि जबकि पुरुष का मौलिक, अनुभवनिरपेक्ष तथा अव्यवस्थित द्वैतवाद अनुभव की संगतिपूर्ण व्याख्या करने में असफल हो जाता है, तब उत्तरोत्तर संगतिपूर्ण परिकल्पनायें तथा व्याख्यायें सांख्ययोग के द्वैतवाद को शेष रखने म असफल हो जाती हैं जैसाकि विज्ञानभिक्षु की स्थिति के परिणामों से सुस्पष्ट है। अनुभव की तार्किक गणना में संगति तथा अनुभवनिरपेक्ष और व्यावहारिक जगतों का पूर्ण द्वैतवाद आपस में अविरुद्ध नहीं है। उनकी असंगति सुस्पष्ट ही है। ऐसा हो सकना संभव है कि अनुभव के अनुभवातीत तथा व्यावहारिक दोनों ही तत्वों का अस्तित्व वास्तव पुरुष में ही है, जिसके कारण कि वह स्वतन्त्र तथा बद्ध, अनुभवकर्ता तथा केवली, दोनों एक ही साथ और एक ही समय में हो सकता है। सांख्ययोग के कठोर एवं असमझौतावादी द्वैतवाद से एक प्रकार के अद्वैतवाद पर विचार के बजन को इस परिवर्तन से अनुभवनिरपेक्ष सिद्धांत व अनुभव के स्तर पर 'मौलिक पतन' की समस्या के तार्किक हल की आशाओं पर किसी प्रकार के प्रभाव की अपेक्षा नहीं की जा सकती है, क्योंकि अद्वैत वेदान्त के लिए भी बौद्धिक तथा तार्किक स्तर पर वह समस्या उतनी ही अव्यवस्थित रह जाती है जितनी कि वह सांख्ययोग के द्वैतवाद के लिए।

अविद्या' की तार्किक रूप से अव्यवस्थित धारणा का, भारतीय अद्वैतवादी दोनों के द्वारा एक समान उपयोग यहाँ उस रूप से यह सुझाव

देता है कि जगत और जीवन के चरम प्रारम्भ से सबंधित प्रश्न तर्क तथा बुद्धि की सीमाओं के परे हैं। चरम प्रारम्भ या चरम अन्त का क्षेत्र बुद्धि का क्षेत्र नहीं है, और मनुष्य की बौद्धिक जिज्ञासा का इन दो अंतियों के मध्यवर्ती प्रदेश में काय करके ही संतुष्ट हो जाना उचित है।

द्वैतवादी सिद्धांतों की आलोचना

हम चेतना तथा अचेतना के संबंध की व्याख्या के द्वैतवादी तथा अद्वैतवादी दोनों प्रयासों का निरीक्षण और अध्ययन कर चुके हैं। किन्तु अभी अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी दोनो निरूपणो की सापेक्ष गुणात्मकता या श्रेष्ठता का आकलन शेष रह गया है। हम सर्वप्रथम पुरुष के प्रयोजन या पुरुषार्थ के प्रकृति द्वारा पूरे किये जाने की सांख्ययोग परिकल्पना पर विचार करना चाहते हैं। डा० जाह्न्सटन का कथन है कि यह सिद्धांत संभवत पूर्व-सांख्य के लिए ज्ञात नहीं है।[१] इतना तो स्पष्ट ही है कि ईश्वरकृष्ण के लिए इस सिद्धांत को ग्रहण करने का चाहे कोई भी कारण क्यो न रहा हो वह इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं दे पाते कि चेतन सिद्धांत क्यो और किस प्रकार इस भाँति के शारीरिक यंत्र में विकसित हो सका है कि वह पुरुष के प्रयोजन या पुरुषार्थ हेतु योग्य सिद्ध हो सकता है।

यदि हम मनुष्य या जल या थल के निम्न प्राणियो की शरीर रचना तथा नाड़ी मंडल को देखें, तो हमें अबौद्धिक या अचेतन सिद्धांत की पूर्ण बौद्धिकता तथा सगनिपूर्णता को देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। किन्तु शंकर का कथन है कि इस प्रकार की घटना जगत में कहीं भी नहीं देखी जाती है कि किसी बौद्धिक प्राणी द्वारा निर्देशित हुए बिना ही कोई अचेतन या अबौद्धिक वस्तु इस प्रकार के पदार्थ स्वेच्छया पैदा कर सकती हो जो कि किसी चेतन प्राणी के प्रयोजनार्थ काम में आ सकते है[२] क्योंकि अचेतन में नहीं, बल्कि केवल चेतन में ही प्रयोजन शक्ति निहित हो सकती है और इसलिए जब कभी भी अचेतन में क्रियात्मकता पाई जाती है, वह चेतन के निर्देश के कारण ही होती है और हो सकती है। उपनिषद् कथन भी है कि 'जो कुछ भी गतिमय है या क्रियाशील है वह वसा चेतन के प्रभाव के कारण और प्रभाव के अन्तर्गत ही है।

इसे सिद्ध करना कठिन नहीं है कि अचेतन से किसी प्रकार की क्रिया सम्भव नहीं हो सकती है। गाय तथा दूध का सांख्य दृष्टांत उचित नहीं है

१ डा० जाह्न्सटन अर्ली सांख्य, पृष्ठ ११
२ शांकरभाष्य २ २ १।

क्योंकि गाय एक सचेतन प्राणी है तथा अपने दूध को अपने बच्चे के स्नेह के कारण प्रवाहित होने देती है। किन्तु यह पुरुष जबकि तटस्थ तथा 'उदासीन' है तब कोई कारण नहीं है कि प्रधान क्या उसके हेतु क्रिया के लिए विवश होता है[1] इस स्थिति में यह देख पाना अत्यन्त कठिन है कि वह क्यों अपने आपको रूपान्तरित करता है जबकि पुरुष का उससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है।[2] चेतन के सिद्धांत की उपकरणात्मकता के अभाव में अचेतन सिद्धांत में किसी प्रकार की स्वेच्छाकृत क्रिया नहीं हो सकती है, तब यहाँ एक सुनिश्चित सुनिर्धारित तथा सुनिर्दिष्ट व्यवस्था सदव ही पाई जाती है। क्योंकि अन्यथा, 'अचेतन घास जब बैल द्वारा खाया जाता है तब वह उसी प्रकार गाय की दूध में परिवर्तित क्यों नहीं कर लेता है जैसाकि गाय द्वारा खाये जाने पर करता है ?[3] अचेतन 'प्रधान' से सबंधित किसी भी शक्ति पर कोई प्रयोजन आरोपित नहीं किया जा सकता है।[4] और न कि क्रिया का लक्षण सदैव ही प्रयोजन है, जोकि अचेतन में अनुपस्थित होता है, इसलिए जड़ जगत से किसी भाँति की क्रिया को भी सबंधित नहीं बताया जा सकता।

यह स्वीकार करते हुए कि 'प्रधान भी सप्रयोजन हो सकता है, यह पूछना आवश्यक हो जाता है कि वह प्रयोजन क्या हो सकता है ? वह पुरुष का भोग तो हो नहीं सकता जैसी कि सांख्य की मान्यता है, क्योंकि पुरुष अन्तरस्थ रूप से ही बाधानुभव और इसलिए भोग में अक्षम है, और यदि वह भोग में क्षम होता तो फिर मोक्ष के लिए कोई अवसर नहीं हो सकता था क्योंकि उस स्थिति में 'भोग्य' से उसका संयोग अविभाज्य होता। यदि यह युक्ति या तर्क किया जाये कि पुरुष के सन्तोष के पश्चात् प्रकृति पृथक् हो जाती है, जैसा कि सांख्यकारिका (५६ तथा ६८) में प्रतिपादित किया गया है[5] तो यह भी अग्रहणीय ठहरता है क्योंकि अचेतन प्रधान को अन्त की उपलब्धि का बोध नहीं हो सकता है।

इस कारण निष्कर्ष यह है कि यदि बुद्धि को क्रियात्मकता का स्रोत नहीं माना जाता तो साध्य और साधन के सम्बन्ध में अचेतन से चेतन को सम्बन्धित नहीं किया जा सकता। किन्तु साध्य अभी भी एक नई स्थिति का द्योतक

१ बृहदारण्यक ३ ८ ६।
२ शांकरभाष्य २ २ ४।
३ शांकरभाष्य २ २ ५।
४ शांकरभाष्य २ २ ६।
५ सांख्यकारिका ५६ तथा ६८।

कर सकता है कि पुरुष या चेतन सिद्धान्त यद्यपि सक्रिय नहीं हो सकता है, तथापि वह भोग में समर्थ हो सकता है। किन्तु यह नई स्थिति भी मुश्किल से ही रक्षणीय है, क्योंकि पुरुष यदि परिवर्तित होने के भय से सक्रिय कर्त्ता नहीं हो सकता है, तो वह भोक्ता ही कैसे हो सकता है, क्योंकि भोग में परिवर्तित होने की क्षमता भी उसी प्रकार अन्तर्भावित है जिस प्रकार कि गतिमयता या सृजन की क्रियात्मकता है। पुरुष को द्रष्टा या भोक्ता बनाने के हेतु अपेक्षित परिवर्तन के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं होता है[1], क्योंकि सृष्टा होने या भोक्ता होने, दोनों में ही क्रिया समानरूप से सन्निहित होती है। यह नहीं कहा जा सकता है कि पुरुष शुद्ध चेतना भी है जिस प्रकार कि वह भोक्ता है, क्योंकि या तो उस पर आरोपित भोग अयथार्थ है या फिर पुरुष स्थिर चित्त नहीं रह जाता है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि कथित् भोग वस्तुत सत्व में पुरुष के प्रतिबिम्ब से सम्बन्धित है, क्योंकि यदि इस प्रकार की क्षमता पुरुष को प्रभावित नहीं करती है, तब उसे भोक्ता बनाना अर्थहीन है[2], और यदि भोग का दुर्भाग्य पुरुष को प्रभावित नहीं करता या अछूता छोड़ जाता है तो मुक्ति के हेतु किए गए सारे प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं। इस तरह विशुद्ध चेतना को इस प्रकार नहीं विचारा जा सकता है कि उसे किसी लक्ष्य की उपलब्धि करनी है या उसमें भोग का बोध है, और न अचेतना को ही उसके उपयुक्त साधन की तरह उससे सम्बन्धित किया जा सकता है।

इसके बाद हम 'सान्निधिमात्र' की द्वितारमक परिकल्पना पर आते हैं। इस परिकल्पना की प्रथम आलोचना यह है कि इसमें प्रधान की प्रयोजन शक्ति की तरह पुरुषार्थ के सिद्धान्त का परित्याग अन्तर्निहित है। यह कहना कि 'प्रधान पुरुष के प्रयोजनार्थ क्रियाशील होता है तथा यह कहना कि वह मात्र सान्निध्य के कारण गतिमय होता है, दो अत्यन्त विभिन्न वस्तुएँ हैं। सान्निधिमात्र की परिकल्पना स्वयं अपने आप में भी असन्तोषजनक है क्योंकि सान्निध्य के स्थायित्व के कारण उससे उद्भूत क्रिया का स्थायित्व भी अनुगमित होता है और इस प्रकार मुक्ति की कोई सम्भावना या अस्तित्व नहीं रह जाता है। इसके अतिरिक्त चुम्बक और लोहे तथा पुरुष और प्रधान की स्थितियाँ भी ठीक रूप से समानान्तर नहीं हैं। चुम्बक तथा लोहे का सान्निध्य स्थायी नहीं है तथा किन्हीं विशेष स्थितियों और संयोगों पर निर्भर होता है जिनका प्रधान तथा पुरुष के सान्निध्य में नितान्त अभाव है।

---

१ प्रश्नोपनिषद् शांकरभाष्य ६ ३।

२ प्रश्नोपनिषद् शांकरभाष्य ६ ३।

प्रधान के अचेतन और आत्मा के उदासीन होने के कारण, तथा उन्हें जोड़नेवाले किसी तीसरे सिद्धान्त के अभाव के कारण, उन दोनों के मध्य किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं हो सकता है।[१]

इस तरह यह स्पष्ट है कि द्वैतवादी परिकल्पना के आधार पर चेतना तथा अचेतना के मध्य सम्बन्ध का कोई तार्किकरूप से सन्तोषजनक कारण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उस समय तक जब तक कि हम एक ऐसे उच्चतर तथा व्यापक यथार्थ की सत्ता का स्वीकार नहीं करते हैं जोकि चेतना और अचेतना को अपने में लिए हुए हैं तथा चेतना अचेतना उसके पहलू विशेष से अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं, तब तक उनके मध्य आश्चर्यजनक रूप से स्थापित पूर्ण सहयोग का प्रश्न अव्याख्यित ही छूट जाता है। मनस तथा पदार्थ का सरल द्वैतवाद, जोकि हमारे मना के लिए पूर्णतया स्वाभाविक है एक तृतीय तत्व की कठिनाइयों की आलोचना के समक्ष नहीं ठहर सकता, जिसकी कि हमें दो पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र वस्तुओं को जोड़ने के लिए अनिवार्यत जरूरत होती है। और यदि 'किसी तृतीय वस्तु' की परिकल्पना असन्तोषजनक है, तो हमारे पास, एक ही सार्वभौम सत्ती के अन्तर्गत विषयी तथा विषय के विभेद के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प शेष नहीं रह जाता है। इस कारण अद्वैतवादी अचेतना के स्वतन्त्र सिद्धान्त की परिकल्पना को निम्नकारणा के कारण पूर्णरूपेण अनावश्यक मानकर अस्वीकृत कर देता है

(१) कोई कारण प्रतीत नहीं होता है कि अचेतन तत्व को गतिमय होना ही क्यो चाहिए या फिर एक बार गति पाकर रुकना क्यों चाहिए। एक स्थिति में क्रिया अव्याख्यित रह जाती है तथा दूसरी म निरम हा जाती है।

(२) अचेतन तथा सुनिर्धारित या सुनियोजित तथा सप्रयोजन गति में सक्षम नहीं है और चेतन तत्व ही केवल क्रिया का प्रारम्भ या समाप्त कर सकता है।

अब हमे सारांश में अद्वैतवादी स्थिति का अध्ययन और परीक्षण करना चाहिए। यह स्वीकार करते हुए कि अचेतना का कोई अस्तित्व नहीं है यह प्रश्न अपने आप हमारे समक्ष आ उपस्थित हो जाता है कि तब एकात्मक तथा विभेदरहित चेतना संसार के प्रपंच और विभेदो को किस प्रकार पैदा कर सकती है? अद्वैत द्वारा इसका उत्तर माया की परिकल्पना से दिया गया

१ शांकरभाष्य २२७।

है। 'यह वह बना जो कि ज्ञान है तथा वह भी जो कि ज्ञान से शून्य है ।'[१] किन्तु गति के तत्व की संगति सर्वव्यापी चेतना के सिद्धान्त से भी नहीं बठाई जा सकती है। यदि 'प्रधान' प्रथम प्रेरणा के अभाव में मौलिक तथा आदि गति को प्रारम्भ नहीं कर सकता है तो ठीक तादात्म्यक कारण के कारण ही ब्रह्म भी उसे प्रारम्भ करने में उतना ही असमर्थ है क्योंकि वह पूर्ण सत्ता है। हम देख चुके हैं कि अचेतना के उद्भव या उत्पत्ति से सम्बन्धित प्रश्न का अद्वैतवादी उत्तर आत्मा के दो रूपों अर्थात् एक निरपेक्ष रूप तथा दूसरा अविद्या द्वारा अध्यारोपित विभेदों को ग्रहण किये हुए व्यावहारिक रूप के विभेद पर आधारित है। अद्वैतवाद द्वारा आत्मा को उसके दूसरे रूप में, अर्थात् व्यावहारिक रूप में ही, सृष्टा माना गया है। किन्तु इसके विपरीत, बहुधा यह कहा गया है कि अविद्या की धारणा को स्थान देना वस्तुतः पीछे के द्वार से द्वैतवाद को ही प्रविष्ट करना है। अद्वैतवादी मान्यतानुसार ही कोई कारण प्रतीत नहीं होता है कि परम चेतना को किसी भी रूप में अवरुद्ध या किसी के भी द्वारा पराजित क्यों होना चाहिए। सांख्य में 'प्रधान' या 'प्रकृति' की धारणा से जो कुछ उपलब्ध करने का प्रयास किया जाता है, उसे यहाँ 'अविद्या' या 'माया' के कंधों पर डाल दिया गया है। शंकर यह तर्क करते हैं कि वेदान्तवादी की उच्चतम आत्मा, जोकि अपने अन्तरस्थ स्वरूप में अक्रिया तथा, साथ ही साथ माया में निहित गति या क्रिया की शक्ति द्वारा भी लक्षित होती है, सांख्य से श्रेष्ठ है। ऐसी स्थिति में शंकर की युक्ति की यौक्तिकता का एकमात्र कारण बस यही प्रतीत होता है कि 'एक' दो से श्रेष्ठ है, क्योंकि अक्रिया तथा क्रिया दोनों एक ही वस्तु में, उसे इन लक्षणों में से एक या दूसरे को छोड़ने को बाध्य किये बिना ही, किस भाँति उपस्थित हो सकती है। चेतना तथा अचेतना के मध्य एक जोड़नेवाली कड़ी की भाँति माया का सिद्धान्त, इस कारण, या तो पूर्णतावाद की एक सुविधामात्र है, या द्वैतवादी परिकल्पना की असन्तोषजनक स्थिति के प्रति केवल एक निर्देशमात्र। अनेकवाद के प्रारम्भ या ब्रह्म की एकता की आधारभूत समस्या बिना हल हुए ही शेष रह जाती है। किन्तु ये आक्षेप अद्वैतवादी को अधिक चिंतित नहीं बनाते हैं क्योंकि उसकी मान्यता है कि अचेतना का रहस्य केवल उसी समय स्पष्ट होता है, जबकि हम ब्रह्म या पूर्ण में पूर्णरूपेण एक हो जाते हैं और उस समय तक केवल उसकी ही परिकल्पना शेष रह जाती है जो कि ताकिरूप से न्यूनतम असन्तोषजनक है।

---

१ तैत्तिरीय २ ६।

निष्कर्ष

चेतना और अचेतना के सम्बन्ध के सम्बन्ध में हम अद्वैत वेदान्त तथा सांख्य योग दृष्टिकोणों की विस्तार से परीक्षा कर चुके हैं। हमने अद्वैत वेदान्त तथा सांख्य योग दृष्टिकोणों की इतने विस्तार से विशेषरूप से परीक्षा इसलिए की है क्योंकि ये दोनों दर्शन सम्प्रदाय चेतना के स्वतन्त्र तथा नित्य अस्तित्व में विश्वास करते हैं और उसे अकारण तथा असृष्ट मानते हैं। यह ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि ये दोनों सम्प्रदाय, जहाँ तक चेतना तथा अचेतना के सम्बन्ध का प्रश्न सम्बन्धित है अपनी सत्तामीमांसा में महत् विभेदों के बावजूद भी किस प्रकार से निम्न समान स्थितियों पर पहुँचते हैं।

अद्वैत वेदान्तानुसार, चेतना जो कि एकाकी ही अस्तित्व में है, सम्बन्ध की सृष्टि (जिसमें कि दो वस्तुओं का अस्तित्व अनिवार्यरूप से अपेक्षित और अन्तर्भावित होता है) के परे और अतीत है, क्योंकि परम चेतना की स्थिति में सम्बन्ध का दूसरा पद अनुपस्थित होता है। यह, इस कारण, स्वयं में असंग और असम्बन्धी तथा सब सम्बन्धों के आधार की भाँति अस्तित्व में होती है। चेतना तथा अचेतना का भेद भ्रांतिजन्य है और अचेतना हमारी दृष्टि की सीमाबद्धता या हमारे ज्ञान और विवेक के अभाव के कारण, केवल प्रतीत मात्र होती। यथार्थ में, वह है नहीं उसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है जिसके साथ कि चेतना को सम्बन्धित किया जा सकता है। 'अविद्या ही हम अनुभव कराती है कि जसे अचेतना का अस्तित्व है। यह 'अविद्या' एक विनाशयोग्य वस्तु है और उसी अनुपात में, जितना कि उसे विनष्ट कर दिया जाता है अचेतना का प्रदेश भी विनष्ट हो जाता है। सांख्ययोग की द्वैतवादी स्थिति की ओर से भी लगभग यही कहा जा सकता है क्योंकि इस द्वैतात्मक सत्वमीमांसा में भी, यद्यपि अचेतना तत्व भी चेतना की तरह ही नित्य और स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में है वस्तुतः चेतन पुरुष को पृथक् असम्बद्ध तथा अनासक्त केवली की भाँति ही प्रतिपादित किया गया है और उस समय तक जब तक की पुरुष अचेतन प्रकृति से वस्तुतः सम्बन्धित नहीं होता है, तब तक प्रकृति का अस्तित्व मात्र किसी भी रूप से पुरुष के सत् स्वरूप को प्रभावित नहीं करता है। सांख्य योगानुसार भी पुरुष तथा प्रकृति का सम्बन्ध पुरुष के सत्यतम लाभ के पक्ष में नहीं है तथा उससे उसे मुक्त होना है क्योंकि केवलत्व' प्राप्ति को पुरुष का लक्ष्य बताया जाता है। जड़ के प्रति आसक्ति, पुरुष के स्वयं अपने केवल और 'असंग' स्वरूप के प्रति अविवेक या अज्ञान का परिणाम है तथा अविवेक के विनष्ट किये जाने पर चेतनसिद्धान्त के अनासक्त केवलत्व का यथार्थ पुनः उसके पास वापिस लौट आता है।

हमारा निष्कर्ष, इस कारण, यह है कि प्रत्ययवादी अद्वैतवाद तथा द्वैतवादी दृष्टिकोण दोनों ही चेतना के 'स्वरूप' की 'केवल' और 'शुद्ध' होने की उसकी उभय धारणाओं में मिलते हैं तथा आगे भी उनका मिलन उनकी इस स्वीकृति में होता है कि चेतना की अचेतना के साथ भ्रांति तथा सम्बन्ध का कारण अविवेक के सिद्धांत में निहित है। उनका भेद केवल अविवेक के इस सिद्धान्त (माया या प्रकृति) के चेतन सिद्धान्त में या उसके बाहर निहित होने की धारणा में ही सन्निहित है। अविद्या या अविवेक आत्मा या पुरुष के अन्तर्गत है या बहिर्गत इस सम्बन्ध में ही केवल उनकी धारणाओं में अन्तर पाया जा सकता है।

अद्वैत वेदान्त स्वीकार करता है कि अविवेक का सिद्धान्त 'ब्रह्म' के बाहर अस्तित्व में हो सकता है। इसके ठीक विपरीत, सांख्य योग की मान्यता है कि यह पुरुष से सम्बन्धित नहीं हो सकता है। यदि हम इस भेद की उपेक्षा करते हैं तो वे दोनों चेतना की आधारभूत सत्ता में, जो कि अचेतना से नितान्त असम्बद्ध है सहमत हैं और दोनों ही इस दृष्टिबिन्दु का अनुमोदन करते हैं कि परम चेतना अनुभवरहित और अनुभव निरपेक्ष है। अनुभव की वस्तुतः कोई सत्ता ही नहीं है। आत्मा यद्यपि अनुभव के अन्तर्गत नहीं है तथापि अनुभव के अन्तर्गत प्रतीत होती है। अनुभव दार्शनिक विचार की सर्वश्रेष्ठ और अन्तिम धारणा जरूर है।

अनुभव का, अद्वैतवादी तथा द्वैतवादी दोनों ही के अनुसार, मुक्ति की परमावस्था में कोई अस्तित्व नहीं होता है। अद्वैतवादी के लिए, द्वैताभाव के कारण अनुभव का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता, तथा द्वैतवादी के लिए एकता के अभाव के कारण उसकी कोई सत्ता नहीं होती है। अनुभव को सम्भव बनाने के हेतु उन दोनों को उनकी विपरीत ध्रुवीय यथार्थताओं के लिए पूर्व प्रबन्ध करना पड़ता है क्योंकि अनुभव द्वैतात्मक है और दो विपरीत ध्रुवीय यथार्थ उसके अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। किंतु इन दोनों प्रणालियों को उसे खोना भी पड़ता है, क्योंकि परम सत् अध्रुवीय तथा अनिवार्य है द्विध्रुवत्व केवल व्यावहारिक अस्तित्व का ही लक्षण है। हिन्दू तत्वमीमांसा की विशेषता व्यावहारिक यथार्थ के द्विध्रुवीय तथा तार्किक स्वभाव के विपरीत परम यथार्थ के इस अध्रुवीय, अनुभव निरपेक्ष तथा तर्कातीत स्वभाव की ओर निर्देश में ही निहित है। किन्तु अनुभव निरपेक्ष चेतना की समस्या की उलझन यह है कि यदि आत्मा का मौलिक सिद्धांत से वस्तुतः कोई सम्बन्ध नहीं है, तब यह कभी भी उससे सम्बद्ध नहीं हो सकती, और उस स्थिति में अनुभव अव्याख्यात ही शेष रह जाता है। इसकी दूसरी ओर, यदि आत्मा

वस्तुत सम्बद्ध है, तब किसी भी अवस्था में इस सबंध को पृथक करना असंभव है। इस प्रकार हम अपने को मेढ़ा न्याय के सींगों मे फँसा हुआ पाते हैं। या तो व्यावहारिक जगत् के अनुभव असंभव हैं, या फिर उनसे मुक्ति एक असंभावना है।

द्वैतवादी तत्वमीमांसक के समक्ष दो स्वतन्त्र और पृथक सिद्धांतों के संयोग की कठिनाई है, जबकि अद्वैतवादी के लिए एकता को उसके द्विधुवीय द्वत में पृथक तथा विभाजित करने की कठिनाई है जिसके बिना कि अनुभव किसी भी प रूमें संभव नहीं हो सकता है। किसी भी स्थिति में, अर्थात् चेतन तथा अचेतन सिद्धांत की पूण पृथकता म, या दोनों के पूर्ण तादात्म्य में, हम एक ही कठिनाई पर आते हैं और अद्वत दशन की 'अविद्या की धारणा या सांख्य की 'प्रधान' की धारणा, इस कठिनाई के हल के लिए इस प्रस्ताव के अतिरिक्त कदाचित् ही कुछ कर पाती है कि कठिनाई तार्किक रूप से हल योग्य नहीं है तथा हमारे मस्तिष्कों की सांतता तथा सीमितता का एक भाव ात्मक लक्षण है। 'जीव की तरह ही रहकर जोकि हम हैं, आत्मा से अविद्या के संबंध के रहस्य को हल करने की आशा हम नहीं कर सकते हैं। क्योंकि इस संबंध को समझने के हेतु हम दोनों के अतीत होना आवश्यक है।[१] उस क्षण ही जिस क्षण कि सत् विद्या का उदय होता है, समग्र शंकायें शांत हो जाती हैं।

बौद्धिक स्तर पर समस्या को स्पष्टरूप से हल योग्य नहीं समझा जा सकता है। तक हमें परम् सत्ता की हमारी खोज में उसके अन्त तक कभी नहीं ले जा सकता है क्योंकि यह अनिवार्यत विभेद और विपरीतताओं के सृजन के द्वारा ही क्रियाशील होता है। इस कारण पूव के बुद्धि-अतीतवादी प्रज्ञा या अ तर्साक्षी में अपना विश्वास प्रगट करते हैं जिसे कि 'दिव्य दृष्टि' या 'सम्यक दशन' भी कहा जाता है, जोकि बुद्धि का ही उच्चतर संगठन है और जिसमें ही कि ब्रह्म' या 'पूर्ण' अपनी समग्रता में पवित्र हृदयों के समक्ष प्रगट होता है।

● ●

१ भगवद्गीता शांकरभाष्य १३ २। आनंद आश्रम सीरीज, भाग ३४।

अष्टम अध्याय

उपसहार

एक साराश

हिन्दू दार्शनिको के अनुसार 'चेतना' के स्वरूप की अपनी गवेषणा क अन्त पर हम आ गये हैं। पाश्चात्य दर्शन में इसी प्रकारकी विचारधाराओ के विभेद में हमारी निष्पत्तिया क झुकाव के कुछ विशेष लक्षणों को निर्दिष्ट करना ही केवल अब शेष रह गया है। किन्तु इसके पूर्व कि हम इस काम म सलग्न हों, उन प्रमुख समस्याओ के प्रति साराश में अपनी स्मृति को पुन ताजा करना अत्यन्त आवश्यक है, जिसके चारो ओर कि हिन्दू दर्शन म चेतना के स्वरूप के सबध में पैदा हुए महत्वपूर्ण भेद सदव केन्द्रित हुए हैं।

चेतना के सम्बन्ध में प्रथम प्रमुख समस्या उसके अस्तित्व की स्वतन्त्रता की रही है। अद्वत वेदांत तथा द्वैतवादी सांख्य, दोनों ने ही उपनिषदों से अपनी प्रेरणा ग्रहण करके चेतना के निरपेक्ष सिद्धात के स्वतत्र, अकारण, तथा नित्य अस्तित्व को समान रूप से घोषित किया है। यह चेतना, दोनों ही दर्शन प्रणालिया में अन्तरस्थ स्वरूप से चेतन तथा शुद्ध चिन्मात्र की भाँति अस्तित्व में प्रतिपादित की गई है। गौतम और कणाद के समान दार्शनिकों से लेकर बाद के जयन्त और श्रीधर तक के न्याय वशेषिक यथार्थवादियो न 'लौकिक व्यवहार' में चेतन सिद्धांत को आतरिक और बाह्य इन्द्रियों की स्थितियों के अभाव या अनुपस्थिति में स्वतत्ररूप से क्रियाशील न देखकर यह घोषित किया कि परिस्थितियों के सयोग मात्र से उत्पन्न होने के रूप में चेतना का अस्तित्व सापेक्ष और परतन्त्र है। इस प्रकार प्रत्ययवादी के लिए जो पूव से ही अस्तित्ववान चेतना की लौकिक अभिव्यक्ति की एक स्थिति मात्र थी, उसे ही न्याय वशेषिक यथार्थवादी द्वारा उसकी (चेतना की) उत्पत्ति के मूल कारण की तरह ग्रहण कर लिया गया। प्रत्ययवादी के लिए यह सुस्पष्ट था कि कुछ सत्य 'उस समय भी स्वाधिकार से अस्तित्व में होते हैं जबकि योग्य परिस्थितियों के अभाव के कारण उनकी अभिव्यक्ति नहीं हो रही होती है। उदाहरणार्थ, ध्वनियाँ उस समय भी अस्तित्व में मानी जाती हैं जबकि वे श्रवण के प्रदेश विशेष में या श्रवणेन्द्रियों के ससर्ग में नहीं होती

हैं। प्रसर का प्रदेश विशेष या श्रवण उपकरण से सतत ध्वनि की सृष्टि और उत्पत्ति नहीं करता, किन्तु केवल उसे अभिव्यक्त मात्र करता है जोकि इन ग्राहक स्थितियों के पूर्व भी अस्तित्व म थी।

इसी प्रकार चेतना भी, जो कि अपनी अभिव्यक्ति की उपाधियों के पूव ही ज्ञान की सम्भावना के एक स्वत सिद्ध (प्रमाण) के रूप मे विद्यमान रहती है, वह केवल ज्ञान ही हो सकती है, उपाधियों के द्वारा उत्पादित नहीं। इस सिद्धान्त पर प्रत्ययवादी आग्रह करते हैं कि, यदि चेतना स्वतन्त्र रूप से विद्यमान रही होगी तो, यह अवश्य बिना शरीर तथा इन्द्रियों के सहारे के ही चेतना के स्वतन्त्र अस्तित्व के बारे में इस विमर्श में प्रगाढ निद्रावस्था में अचेतनता (यथाथ या प्रतीयमान) की घटना एक मुख्य स्थान रखती है। क्योंकि उसी अवस्था में चेतनतत्त्व न्यूनत शरीर-एव इन्द्रिय-रूप उपाधियो को छोड़कर विद्यमान रहता है ऐसा माना जाता है।

चेतना के स्वातन्त्र्य तथा उसके साथ ज्ञाता के सम्बन्ध निर्णय मे किसी वस्तु के गुण और स्वारूप्य के बीच मे कल्पित भेद विशेष महत्त्व रखता है। यह प्रश्न पूछा जाना है चेतनतत्त्व और चेतना मे, अर्थात् 'आत्मा' और उसके 'ज्ञान' मे, 'संवित् और उसकी अनुभूति' के अथवा योगशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों से कहा जा सकता है 'पुरुष और 'दृशिशक्ति मे बीच म क्या सम्बन्ध है।

प्रभाकर और रामानुज के द्वारा समर्थित हो न्यायवैशेषिक यथार्थवादी घोषणा करते हैं कि चेतना आत्मा का धममात्र है उसका समवेत स्वरूप नहीं जबकि शाङ्करवेदान्त और सांख्ययोग 'आत्मा और 'चित, तथा 'पुरुष' और 'दृश्' या उसकी क्रिया के बीच तादात्म्य सम्बन्ध के निरूपण के लिए विशेष आग्रहशील होते हैं। इस तादात्म्य के बिना चेतनतत्त्व वस्तुत अचेतन ही बन जाता है। यदि चैतन्यता आत्मा का एक गुणमात्र ही होता तो केवल अचेतन या जड का ही स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है, और चैतन्य का आविर्भाव सविराम एव केवल सयोग से अर्थात् आगन्तुक के रूप से होता क्योंकि स्वरूप ही अविनाशी होता है गुण नहीं।

चेतनतत्त्व अर्थात् आत्मा से चेतना की अविच्छिन्नता के इस सिद्धान्त स ही हिन्दू प्रत्ययवादी वग पाश्चात्य प्रत्ययवादियों से सुषुप्ति में अचेतना की समस्या के विचार म अधिक सफल सिद्ध हुए।

' हिन्दू दार्शनिकों के चेतना सम्बन्धी विचार में दूसरा महत्त्वपूर्ण सवाल है कि चेतना का प्रकाश शास्त्रीय स्वतः प्रकाशत्व। ज्ञानावस्था अपने साथ अपने

ज्ञेयत्व का भी ग्रहण करती है। चेतना स्वय ऐसा प्रकाश स्वरूप है जो अपने को तथा शेष जगत् को प्रकाशित करती है। स्वप्रकाशकत्व की शक्ति चेतना को प्रकाशित करने के लिए और कोई एक चेतना की आवश्यकता होती तो ज्ञान का प्रारम्भ ही न हो पाता और जसा कहा जाता है—सारा ससार अज्ञान के अधेरे मे डूबा रहता।

'अनुव्यवसाय' या ज्ञान के अनुक्रमी ज्ञान द्वारा ज्ञान का सिद्धात तक अन्तिम ज्ञान क स्वज्ञेयत्व को उपस्थित करता है। चेतना क स्वत प्रकाशत्व की यह धारणा चेतना की अपरोक्षानुभूति या 'अपरोक्षत्व' तथा उसकी अद्वितीयता या 'अ यत्व' की एक महत्वपूर्ण धारणा के लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है। हिदू दशन के इतिहास म मीमासादशन म ज्ञानों के स्वत प्रकाशत्व की परिकल्पना को विशेषरूप से प्रतिपादित किया गया है। पाश्चात्य दशन के दृष्टिबिन्दु से हमारी विवेचना का यह भाग तुलनात्मक रूप से नवीन है। पाश्चात्य दशन म, चेतना जहाँ तक सपूर्ण प्रत्यक्ष की परम भासता है हम प्रत्ययवादो द्वारा उसे अद्वितीयता तो प्रदान करते हुए पाते हैं, किन्तु चेतना के प्रति यह दृष्टिकोण वहाँ हम प्राप्त नहीं होता कि वह एक साथ ही स्वप्रकाशी तथा विश्व म सवप्रकाशी की स्रोत है जिसक अभाव में कि सपूण जगत या ता अचेतना के आवेष्टन म डूब जायगा या फिर प्रत्ययों की अनवस्था से मुक्त ही नही हो सकेगा।

यदि चेतना स्वप्रकाशी न होती तो उपरोक्त प्रत्यय की कोई सभावना नहीं हो सकती थी और सपूण ज्ञान सदव क लिए ही इस अय मे परोक्ष होने के लिए अभिशप्त हो जाता कि उसे स्वज्ञान क लिए सदा ही अय उप करणों पर निभर होना पडता जिससे कि निरपेक्ष या पूण ज्ञान की सभावना या सदव के लिए निषध हो जाता। चेतना की स्वत प्रकाशी तथा समग्र प्रकाश के स्रोत होने की धारणा पूर्वीय प्रत्ययवाद में चेतना के प्रत्यय से एक पग आगे जाती है।

चेतना के स्वरूप में, इसके बाद का महत्वपूर्ण और गम्भयन सर्वाधिक महत्वपूर्ण बिन्दु है उसका अनुभवातीत तथा व्यावहारिक अस्तित्वों का द्विपक्षीय रूप। उस समय भी जबकि यह स्वीकृत किया जाता है कि चेतना का स्वतत्र तथा शाश्वत अस्तित्व है यह प्रश्न शेष रह जाता है कि उसका स्वरूप क्या ठीक वसा ही है जसा कि हमारी अन्तर्विचारात्मक चेतना में प्रगट होता है या कि यह 'लौकिक दृष्टि' मे जसी प्रतीत होती है उससे किसी रूप में भिन्न और पृथक है। चेतना अन्तर्विचार म, परिवतन की एक स्थिति के

बाद दूसरी के शीघ्र अनुगमन का एक गत्यात्मक सिद्धांत प्रतीत होती है, तथापि वह व्यक्तित्व और अहप्रत्यय के स्वसमान सिद्धान्त से आश्चर्यजनकरूप से बद्ध तथा सीमित भी प्रतीत होती है, जो उसको सबस्थितियों का अपना ही स्वत्व मानता है। चेतना के परिवर्तनशील तथा अपरिवतनशील पहलू एक रहस्यात्मक सहयोग म अस्तित्व मे रहते हैं। इसलिए प्रश्न यह है कि चेतना का सत्यतम स्वरूप दोनों म से कौन सा है ?

इस स्थल पर हिन्दू दशन एक विशिष्ट दृष्टिकोण ग्रहण करता है। वह घोषित करता है कि वह सत्य, जो कि अनुभव का आधार है, न तो परिवतन शील है और न अपरिवतनशील ही। वह सत्य या यथार्थ परिवतनशील और अपरिवतनशील चेतना दोनो का ही सम्मिलन है जोकि अनुभव की आधार शिला है और जिसके अन्तर्गत ही कि विषयी तथा विषय, द्रष्टा तथा दृश्य, अनुभवकर्ता तथा अनुभूत, और भोक्ता भोग्यके भेद किये जा सकते हैं। अपरिवर्तनशील चेतना, जो कि अक्रिय 'चित् सत्ता' की भाँति अस्तित्व में होती है, चेतना की परिवर्तनशील स्थितियो तथा अहता और व्यक्तित्व की भावना की समानरूप से पूर्वकल्पना है।

यह परिवतनशील चेतना अपने अनुभव निरपेक्ष पहलू में अपने परिवर्तनशील विपरीत पक्ष से बिलकुल सम्बद्ध नहीं होती और कूटस्थ, असग तथा केवल की भाँति उसी प्रकार अस्तित्व में बनी रहती है जिस प्रकार कि दीपक मच को पूव प्रकार से ही उस समय तक भी प्रकाशित करता रहता है जबकि सम्पूर्ण पात्र जा चुके होते हैं। यह अपरिवतनशील चेतना अक्रिय तथा निरय रूप से स्वसमान होती है क्याकि क्रिया में अनित्यता तथा परिमितता की धारणायें अन्तर्निहित हैं जिस तक अनुभव की उस स्थिति में ही पाया जा सकता है जहाँ कि एक विषय दूसरे विषय से विपरीतता के सम्बन्ध में अवस्थित होता है। इस कारण, योगदशन के पारिभाषिक शब्दों में जो निरपेक्ष आत्मा 'केवल' है क्योंकि वह अपने जन्म से पूर्णतया पृथक् है, वही अद्वैत पारिभाषिक शब्दावली में 'विशुद्ध चैतन्यरूप' या 'ज्ञप्तिमात्र' या 'शक्ति' है। उसे शक्ति' कहा गया है क्योंकि यह वह है जो सदव अपरिवर्तित अविक्रिया' है। यह सदव केवल अपनी ही 'साक्षी' है क्योंकि 'सब' में अपने को ही देख चुकने पर कुछ भी 'अन्य उसे देखन के लिए अवशिष्ट नहीं रह जाता।

यह अनुभवातीत या पारमार्थिक चेतना, इस कारण अद्वत वेदांत तथा द्वतवादी सांख्ययोग दोनों में, व्यक्तित्व और अनुभव के भाव से मुक्त है।

इस अपरिवर्तनशील, अगतिमय, तथा अक्रिय चेतना में 'सत' वैपरीत्य को पार कर लिया जाता है, अर्थात् सवप्रयत्न समाप्त हो जाता है, तथा समग्र अनुक्रम एक क्रमहीन चेतना मे विलीन हो जाता है।[१] अद्वैतवेदान्त का यह 'कूटस्थ साक्षी' तथा योग का 'केवली' पाश्चात्य दार्शनिकों की अनुभवातीत चेतना से भिन्न है, जिनके अनुसार कि 'पूर्ण' की धारणा विभिन्नता मे तादात्म्य, अनेकता में एकता, या स्वर वपम्य में स्वर-साम्य की भाँति की गई है और जो कि अनुभव का एक उच्चतर प्रकार मात्र है। पाश्चात्य प्रत्ययवाद में निरपेक्ष तथा सापेक्ष एक प्रकार से दोनों ही एक दूसरे पर परस्पराश्रित हैं। जबकि सापेक्ष तथा ससीम निरपेक्ष तथा असीम की अपेक्षा करता है तब उत्तरोत्तर भी उसी मात्रा में पूर्वगामी की अपेक्षा करता है। निरपेक्ष ब्रह्म सापेक्ष जगत् के बिना उतना ही अबुद्धिगम्य है, जितना कि सापेक्ष जगत् निरपेक्ष ब्रह्म के अभाव मे है। किन्तु हिन्दू प्रत्ययवाद में स्थिति ऐसी नहीं है, जहाँ कि पूर्ण पूर्णतया पूर्ण है, जिसमें कि, जबकि जगत् तो उसके बिना अस्तित्व में नहीं हो सकता है तब वह जगत के बिना भी अस्तित्व म हो सकता है क्योंकि वह अपने स्वाधिकार से सत्तावान है।

हिन्दुओं की अनुभव निरपेक्ष चेतना जो कि केवली' और 'असग' है और जो कि विशुद्ध तथा स्वतादात्म्यक् रूप से ही सदा अस्तित्व में होती है, किसी अन्य वस्तु से तादात्म्यक या अतादात्म्यक किसी प्रकार के सम्बन्ध मे नहीं हो सकती है, क्योंकि (वेदान्तानुसार) या तो उसके अतिरिक्त कुछ भी अस्तित्व में नहीं है, या (योगानुसार) 'अन्य' से उसका पूर्ण विलगाव हो गया है।

चेतना की अक्रिय, पृथक अवस्थित मात्र साक्षी, तथा 'केवल' की तरह की यह धारणा, जिसे कि अनुभव की भाषा मे किंचित् भी नहीं जाना जा सकता है एक ऐसा सद्धान्तीकरण प्रतीत होती है जिसे कि सम्वन्धित धारणा पर बुद्धिगम्य पकड को खोये बिना न्यायोचित ठहराना कठिन है। किन्तु इस सम्बन्ध में हमारी सामान्य कठिनाई पाश्चात्य दृष्टिकोण से उसकी ओर देखने के कारण है। पाश्चात्य दर्शन में अनुभव अन्तिम शब्द है तथा स्वचेतना पाश्चात्य निरपेक्षवाद में श्रेष्ठतम धारणा है। बुद्धि के दृष्टिबिन्दु से प्रारम्भ करके, जो कि विषयी और विषय के विभेदों म ही केवल सत्यों को ग्रहण करती है, अनुभव जगत् की अन्तिमता तथा चेतना के श्रेष्ठतम रूप की तरह

---

१ राधाकृष्णन् इण्डियन फिलासफी भाग १, पृष्ठ ५३८।

स्वचेतना की निष्पत्तियाँ अनिवार्य हैं। किन्तु अनुभव हिन्दू दार्शनिकों के साथ निश्चय ही अन्तिम शब्द नहीं है क्योंकि उनके अनुसार अनुभव की जड़ें विषयी और विषय, उपभोक्ता तथा उपभोगित के द्वन्द्व में निहित हैं और इसलिए अनुभव की धारणा स्वयं परम धारणा नहीं हो सकती क्योंकि वह स्वयं की व्याख्या करने में असमर्थ है।

ज्ञान, भावना और क्रिया के व्यावहारिक अनुभवों तथा अहं प्रत्यय की चेतना के तल से 'आत्म स्वरूप' का तल अधिक गहरा है, जो कि अनुभव की अस्थिरताओं, चाहे वे अपने आप में कितनी ही श्रेष्ठ क्या न हो, और स्वचेतना, चाहे वह कितनी ही उत्कट क्या न हो, दोनों से पूर्णतया शून्य है। कलात्मक तथा धार्मिक चेतना भी चाहे वह कितनी ही तीव्र क्यों न हो, योग की 'केवल' अवस्था या अद्वैत वेदान्त की 'ब्रह्म ज्ञान' अवस्था से तादात्म्यक् नहीं हो सकती है, क्योंकि इस प्रकार की चेतनायें अभी भी 'अनुभव' के एक प्रकार के प्रदेश के अन्तर्गत ही आती हैं। इसी प्रकार, 'ईश्वर' भी हिन्दू दर्शन में 'अनुभव' के अन्तर्गत ही आता है, यद्यपि वह अनुभव मानवीय नहीं दिव्य है। सृजन तथा विनाश की ईश्वर पर आरोपित क्रियाएँ, अन्ततः अनुभव के तल पर ही है, और अस्तित्व के व्यावहारिक स्वरूप से बहुत दूर नहीं हो सकती हैं। किन्तु 'ब्रह्म' या 'केवली' दिव्यानुभव के भी पार, ऊपर और अतीत है। इसलिए ही 'ईश्वर का तादात्म्यीकरण 'पुरुष' से नहीं, प्रकृति' से ही किया गया है'।[१]

एकाकी, केवल, और अक्रिय चेतना की अरूपान्तरित तथा अरूपान्तर योग्य धारणा भारतीय दर्शन के अनेक पाठकों को उलझन में डाल देती है, और वे पूछते हैं कि व्यावहारिक अनुभव की विविधता तथा गतिमयता का प्रादुर्भाव एकात्मक तथा अक्रिय चेतना से कैसे हो सकता है? या किसी भी मूल्य पर, अपरिवर्तनशील तथा साक्षी चेतना परिवर्तनशील अवस्थाओं से अपने आपको सम्बद्ध करके भी अपने अनुभव निरपेक्ष स्वरूप को अवशिष्ट कैसे रख सकती है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि हम नहीं जानते हैं कि 'संसार' का जगत् गतिमय तथा अक्रिय ब्रह्म पर ठीक प्रकार से किस भाँति आधारित है, नहीं ठीक रूप से हम 'ऐक्य' के उस बन्धन को ही जानते हैं जो कि अभर्त्य तथा अक्रिय साक्षी चेतना तथा चेतना के प्रवाहमय परिवर्तनों को एक साथ बाँध कर रखता है। हम केवल इतना ही जानते हैं और सुनिश्चितरूप से जानते हैं कि अपरिवर्तनशील ब्रह्म के अभाव में 'संसार' की कोई सत्ता या

---

१ डी हेमन' ठमस इन स्टेट्ु नर्सरी इन भगवद्गीता।

स्थिति नहीं हो सकती है।[1] इस धारणा में हम एक ऐसे सिद्धान्त का स्पर्श करते हैं जिसे कि बुद्धि के तल पर हल योग्य नहीं समझा जाता है और बौद्धिक रूप से हम केवल यही समझ सकते हैं कि अनुभवातीत चेतना अपने 'ससार प्रपच' के समग्र परिवर्तनमय नामरूपों की मूलाधार तथा पूवकल्पना है। ससार अस्तित्व म नहीं रहेगा यदि पूर्ण चेतना के आधार की उसकी पृष्ठभूमि को अलग या पूर्णतया स्थानान्तरित कर लिया जाय, किन्तु अनुभवातीत चेतना के सम्बन्ध में स्थिति ऐसी नही है, जो कि उस समय भी सतत रूप से अस्तित्व में बनी रहती है जब कि व्यावहारिक जीवन की सम्पूर्ण स्थितियाँ विलीन और अदृश्य हो जाती हैं।

अनुभव निरपेक्ष चेतना का यह स्वभाव तक और बुद्धि के द्वारा अनुभूत नही हो सकता है क्योंकि वस्तुत वह कोई धारणा नहीं है बल्कि, बुद्धि-अतीत अस्तित्व की यथार्थता है। वह सदव ही हमारी सीमित विचारणा के पार चली जाती है। किन्तु इस कारण वह एक सैद्धान्तीकरण मात्र ही नहीं है क्योंकि वह अनुभवगम्य है। हिन्दू दशन के अनुसार बौद्धिक अनुभव भी अनुभव का एकमात्र रूप नहीं है। हमारी विचारणा की सीमा हमारे अनुभव की सीमा नहीं है, वह केवल अनुभव के एक रूप की सीमा ही है। परम सत् की हमारी गवेषणा में तक हमे अन्त तक नहीं ले जा सकता है, क्योंकि तक केवल उस सीमा तक ही काय करता है जहाँ तक कि उद्देश्य और विधेय के विभेद शेष रहते हैं जिसके पार कि अविभेदी अनुभवातीत चेतना का जगत् है जिसकी कि हमें 'अन्य' के किसी बोध के बिना ही केवल बुद्धि अतीत अपरोक्षानुभूति होती है।

अनुभवातीत चेतना के स्वरूप तथा अनुभवातीत और अनुभवाश्रित चेतना के सम्बन्ध की हमारी समग्र चर्चा में उठाई गई समस्याओं के सतोषजनक हल के प्रति तक तथा विवेचनात्मक बुद्धि की अयोग्यता के सन्दभ पर अवश्य ही ध्यान दिया गया होगा किन्तु उसे समस्या से बच जाने के हेतु तार्किक की तरकीब या चाल की भाँति प्रयुक्त नहीं किया गया है। हिन्दू दशन, जिसे कि तार्किक सूक्ष्मताओं की महीन उलझनों में पड़ने का इतना चाव है, तक के प्रति अपर्याप्त आदर का दोषी नहीं हो सकता है। और इसलिए हमारी बुद्धि की परिमितता तथा तक की सीमाओं के सन्दभ जो कि परम समस्याओं की अति दुरूह गाँठ को बहुत ही सरलता से काटते हुए प्रतीत होते हैं वस्तुत केवल तर्क से अधिक पूर्णतर तथा अपरोक्ष दृष्टि सम्यक् दर्शन का एक प्रकार

---

[1] इण्डियन फिलासेफी भाग १, पृष्ठ ५१८।

की योग्यता में, गहरी श्रद्धा पर आधारित है, जिसके द्वारा ही कि केवल परम समस्याओं का समाधान सम्भव है। तर्क तथा बुद्धि का क्षेत्र मनुष्य के सम्पूर्ण अस्तित्व को नहीं घेरती है, यह उसके अस्तित्व का एक अंश मात्र ही है। इस स्थल पर पुन, हिन्दू प्रत्ययवादी रुख और दृष्टिकोण पाश्चात्य प्रत्ययवादी विचारधारा से स्पष्टरूपेण भिन्न पड़ता है।

पूर्ण चेतना की उपलब्धि हेतु, तर्क तथा सैद्धान्तिक विचारणों को पाश्चात्य दर्शन में एक स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त है जो कि हिन्दू विचार में उसे प्रदान नहीं की गई है। किसी अवस्था पर आकर विचार को जीवन के लिए स्थान खाली करना ही पड़ता है। तार्किक चेतना, चेतना की समग्रता नहीं है। और जिस तरह कि पशु की केवल सम्वेदनीयता उसे मानव प्राणी की विचारात्मक स्वचेतना से पृथक् करती है, ठीक उसी प्रकार मानव की केवल मात्र तार्किक चेतना उसे ऋषियों के दर्शन' से पृथक् करती है।

भारतीय दर्शन, इस कारण, अपने को मात्र विश्लेषणात्मक तर्क पर ही आधारित नहीं करता है, बल्कि भावना की अन्तरस्थ समग्रता को ही अपना आधार बनाता है। तार्किक चेतना के पार और अतीत भी कुछ है, जिसको कि 'अपरोक्षानुभूति, दिव्यज्ञान ब्रह्म चेतना या ईश्वर साक्षात्कार के किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। यह हो सकता है कि हम इस अपरोक्षानुभूति को ठीक रूप से अभिव्यक्त न भी कर पायें, किन्तु इतना हम निश्चय ही जानते हैं कि उसका क्षेत्र और उसकी अनुभूति पवित्रता के प्रकाश से भरी हुई होती है। यह अपरोक्षानुभूति सत्य के परम यथार्थ को पकड़ पाने के लिए तर्क से कहीं अधिक श्रेष्ठतर साधन है। इस स्थल पर यह पूछा जा सकता है कि तब क्या बौद्धिक दर्शन भारत में रहस्यानुभूति में विलीन हो जाता है और तर्क केवल एक निष्फल खोज ही रह जाती है? इस तरह के प्रश्नों में अभी हम विस्तार से नहीं जा सकते हैं किन्तु इतना निश्चय रूप से ही कहा जा सकता है कि हिन्दुओं के लिए छिपे हुए सत्य की खोज में शुद्ध बौद्धिकता सामान्यतः अन्तिम और सर्वाधिक सफल साधन नहीं है।

जीवन की समग्रता का 'पूर्ण' के बौद्धिक ज्ञान और आध्यात्मिक अनुभूति के ऐसे दो प्रकोष्ठों में नहीं बाँटा जा सकता है ताकि यह कहा जा सके कि जब कि बुद्धि जीवन की परम समस्याओं को समझने की कोशिश करती है, तब नैतिक और आध्यात्मिक चेतना को स्वयं अपने में और अपने लिए ही छोड़ दिया गया है। इसके विपरीत, यह हो सकता है कि बौद्धिक खोजी भी नैतिक और आध्यात्मिक 'साधना के द्वारा ही परम सत्य के साक्षात् की आशा कर सकता है। यह सत्य है कि परम सत्य की बौद्धिक पकड़ या ज्ञान सम्भव

है किन्तु यह पर्याप्त नहीं है। यह साधना या आध्यात्मिक अनुभूति की श्रेष्ठतर अवस्था के लिए एक सीढ़ी मात्र है जिसमें ही कि परम सत्य पूर्ण रूप से प्रगट होता है। पूर्ण सत्य या ब्रह्म की अनुभूति हमें उस समय तक उपलब्ध नहीं हो सकती है जब तक कि हमने अपने प्राण मन और आत्म-जीवन की पूर्ण समस्वरता की अवस्था को प्राप्त नहीं कर लिया है, तथा सतत साधना और ध्यान से अपने आपको अनुभव निरपेक्ष सत्य के ग्रहण योग्य पवित्र नहीं बना लिया है।

उपासना' पर उपनिषदों द्वारा दिये गये जोर का कारण यही है। उपासना ही हमें 'सहयोग की कार्यकारिता' में तार्किक जादुई आस्था की भाँति ऐसे उचित स्थिति में रख सकती है जहाँ कि हम परम सत्य की अभिव्यक्ति को ग्रहण कर सकने में समर्थ हो सकते हैं। उससे हमारी भावना परिष्कृत होती है तथा ग्रहणशीलता विस्तृत और श्रेष्ठतर बनती है जिसके कारण कि वह पूर्ण चेतना के दर्शन को पकड़ पा सकने में समर्थ और योग्य हो जाती है जो कि उस सीमा तक एक अद्वितीय अनुभव है जहाँ तक कि उसमें ज्ञान और मानसिक अस्थिरताओं के ध्रुवत्व से चेतना की मुक्ति निहित है।

किन्तु इस धारणा के कारण कि सत्य की अनुभूति साधना से होती है, यह अनुसरित कदापि नहीं होता है कि तत्सम्बन्ध में किये सब सैद्धान्तिक प्रयास व्यर्थ ही होते हैं। बल्कि इसके ठीक विपरीत, हिन्दू चिन्तन यह सदैव ही घोषित किया है कि जीवन की बौद्धिक तथा नैतिक अवस्थाएँ उस श्रेष्ठतम आध्यात्मिक अनुभव के आन्तरिक और अविच्छिन्नयोग्य अंग हैं जिसमें कि आत्मा के सत्य स्वरूप की अपरोक्षानुभूति प्रगट होती है। आध्यात्मिक अनुभूति को उस विषयवस्तु विहीन शून्य में अनुभव नहीं किया जा सकता है जहाँ कि बौद्धिक और नैतिक चेतना दोनों का अभाव है। तार्किक बुद्धिवाद की सीमाओं के सम्बन्ध में अनेक बार पुनरुक्ति के बाद भी हिन्दू विचार उसके सापेक्ष मूल्य के प्रति पूर्णरूप से सन्देहवादी कभी नहीं रहा है।

हिन्दू मुनियों ने घोषित किया है कि चेतना की समस्या मानव जीवन की दुरूहतम समस्याओं में से एक है, जिसका रहस्य कि गहरी गुहाओं में छिपा हुआ है। यह एक ऐसी उलझन भरी ग्रन्थि है कि उसे बड़े अतक्य प्रयास से ही खोला जा सकता है और इस पथ के राही का मार्ग तलवार की धार पर चलनेवाले से भी अधिक कठिन है। इसी कारण कहा गया है कि इस सत्य को हजारों श्रोताओं में से कुछ ही समझ पाते हैं और कुछ, जो समझ पाते हैं, उनमें से भी एक या दो ही उसकी प्राप्ति के अन्त तक पहुँचने में समर्थ होते

है। इस कारण ऋषियों ने तार्किक या बौद्धिक ज्ञान के साथ ही साथ आध्या त्मिक अन्तरदृष्टि पर भी जोर दिया है। यह सत्य है कि विवेचनात्मक परीक्षण ज्ञान की द्वितीय अवस्था है किन्तु यह भी सत्य है कि यह भी पूर्ण की श्रेष्ठतर अनुभूति या साक्षात के लिए एक प्राथमिक अवस्था मात्र ही है।

हिन्दू चिन्तन की एक दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि उसने पाश्चात्य दर्शन द्वारा प्रस्तावित और सामान्यत स्वीकृत मानसिक या मनो-वैज्ञानिक यथार्थ को वस्तुत पौद्गालिक ही माना और घोषित किया है। पाश्चात्य दर्शन में पदार्थ और 'मन' के बीच सामान्यत' एक द्वैत को स्वीकार किया गया है जिन्हें कि गुणात्मक रूप से दो भिन्न स्तरों से सम्बद्ध माना जाता है। मनुष्य में उसके शरीर और इन्द्रियों को पौद्गालिक माना जाता है किंतु उसके मन, अहंता, संवेदन, विचार और भावना के मनोशास्त्रीय समूह को शरीर और इन्द्रियों के पौद्गालिक या पार्थिव अस्तित्व से नितांत भिन्न निरूपित किया गया है। पाश्चात्य दर्शन में स्वीकृत इस द्वैतवाद को ही बहुधा इन प्रश्नोत्तरों मे व्यक्त किया जाता है पूछा गया है कि 'मन क्या है ? तो उत्तर दिया गया है कि 'वह जो पदार्थ कभी नहीं है, और यदि पूछा गया है कि पदार्थ क्या है ? तो उत्तर हुआ है 'वह जो मन कभी नहीं है।' इस द्वैतवाद की व्याख्या के लिए पदार्थवाद, आध्यात्मवाद तथा मन और पदार्थ के मध्य अन्तर्क्रिया तथा समानांतरवाद द्वारा प्रस्तुत अनक परिकल्पनाओं द्वारा प्रयास किया जाता रहा है। किन्तु यह अत्यन्त आश्चर्यजनक है कि हिन्दू दर्शन मे सामान्यत मन और पदार्थ के मध्य इस प्रकार का कोई द्वैत या भेद कभी भी प्रस्तावित या स्वीकृत नही किया गया है।

इसका कारण यह है कि हिन्दू दृष्टि के अनुसार भौतिक और मानसिक अस्तित्व दोनों एक ही पौद्गालिक आधार पर आधारित हैं तथा एक ही परम यथार्थ, 'प्रधान' या 'प्रकृति' के दो भेदरूप मात्र हैं। इस कारण एक व्याव हारिक अस्तित्व का दूसरे व्यावहारिक अस्तित्व से या एक रूपभेद का दूसरे रूपभेद से कोई भेद नही किया जाता है। भौतिक अस्तित्व और मानसिक अस्तित्व के मध्य 'सूक्ष्मता के परिमाणानुसार जरूर भेद किया जाता है किंतु वह भेद एक ही प्रकार के अस्तित्व के बीच गुण का नहीं केवल मात्रा का भेद मात्र ही है। किन्तु जबकि एक व्यावहारिक सत्ता और दूसरी के मध्य, जोकि केवल भिन्न मात्र है, तथा जिनका मूल स्रोत एक ही है, कोई विभेद नहीं किया जाता है तब व्यावहारिक जगत और पारमार्थिक जगत के

मध्य जरूर ही भेद किया गया है जो कि केवल भिन्न ही नहीं है, बल्कि एक दूसरे से पूर्णरूपेण पृथक और अन्य है और जिनका कि कोई उभय उद्‌गम या एक ही मूल स्रोत नहीं है।

उदाहरणार्थ, हम सांख्ययोग दर्शन को लेते हैं। इस दर्शन प्रणाली में, 'मनस', 'बुद्धि' या 'अहंकार' को जोकि पारमार्थिक पुरुष (शुद्ध चित शक्ति) तथा स्थूल शरीर (शुद्ध पदार्थ) के दो जगतों के मध्य एक तृतीय माध्यमिक वस्तु है 'शरीर' के समान ही पौद्‌गलिक और जड माना जाता है क्योंकि ये सब एक ही 'प्रधान' के रूपभेद है। उन्हें (मन और शरीर) हम क्रिया और रूप की सूक्ष्मता की दृष्टि स तो मानसिक और भौतिक की भाँति वर्गीकृत कर सकते हैं, तथापि जाति की दृष्टि से वे एक ही वर्ग अव्यक्त' के अन्तर्गत आते हैं। डा० हेमन का कथन है कि 'सांख्य दृष्टि से बुद्धि, जैसी कि हम अपेक्षा कर सकते है 'पुरुष' से उत्पन्न नही होती है बल्कि वह 'प्रकृति का विकास, उत्पत्ति और रूपभेद है। चेतना के व्यक्तिकरण का सिद्धांत या 'अहंकार' तक भी मूल प्रकृति की ही उत्पत्ति है। इन दोनों (मन और पदार्थ) को यद्यपि स्वयं उनके ही मध्य मानसिक और भौतिक की भाँति भिन्न माना जाता है, तथापि, पुरुष से मन और पदार्थ दोनों को ही, अचेतन की भाँति पृथक किया जाता है। 'पुरुष' ही केवल चित' का स्रोत है और शेष सब अचेतन जगत् के अन्तर्गत आता है। 'बुद्धि जोकि वास्तविक रूप से मानसिक है और जोकि प्रत्यक्षीकरण की क्रिया में बाह्य विषयों के रूपों को अपने ऊपर ग्रहण करती है सख्यानुसार उस समय तक अचेतन ही बनी रहती है जबतक वह पुरुष की अनुभवातीत चेतना का प्रतिबिम्ब ग्रहण नही कर लेती है। चेतना का यह अनुभवातीत सिद्धांत 'पुरुष अनुभव के जगत् में इतना पृथक और दूर है कि वह अपने 'स्वरूप में अचेतना के सिद्धांत 'प्रधान' या उसके व्यावहारिक मानसिक रूपभेदों के गुणों का साझीदार कतई नहीं हो सकता है। इस तरह, सांख्ययोग का द्वैतवाद पाश्चात्य दर्शन के समान भौतिक और मानसिक जगतों के बीच नही है। साम्ययोग का द्वैतवाद एक नितान्त भिन्न प्रकार का द्वैतवाद है अर्थात् वह है पारमार्थिक तथा व्यावहारिक चेतना का द्वैतवाद क्योंकि अपरिवर्तनशील और केवल चेतना व्यावहारिक और परिवर्तनशील चेतना से गुण की दृष्टि से पूर्णरूपेण भिन्न है जोकि गृहीत तथा 'ग्राह्य' के भेदों में विभक्त है। साम्ययोग का विभेद या द्वैत व्यावहारिक चेतना (मन) तथा अचेतना (पदार्थ) के मध्य नहीं है, जोकि दोनों ही एक ही बीज के विकास हैं, किन्तु पारमार्थिक

या अनुभवनिरपेक्ष चेतना और व्यावहारिक चेतना के मध्य, या दूसरे शब्दों में, 'दृश्यमात्र पुरुष और 'प्रत्ययानुपश्य' या 'प्रतिरजवेदी' पुरुष के मध्य है।

यह कहा जा सकता है कि चूँकि किसी भी स्थिति में द्वैतवाद शेष रहता ही है, इसलिए यह अप्रासंगिक है कि वह मन' और पदार्थ के बीच है या 'मन' और 'पुरुष के बीच। किन्तु यह भेद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसकी महत्ता इस तथ्य म निहित है कि यदि हम मन और पदार्थ के पाश्चात्य द्वैतवाद पर जोर देते हैं तो हम पारमार्थिक या अनुभवनिरपेक्ष चेतना के सत्य के अर्थ को पकड़ने से चूक जाते हैं और तब 'मन को ही अनुभव निरपेक्ष चेतना से तादात्म्यक् समझने की भूल सहज हो जाती है। किन्तु सांख्ययोग द्वैतवाद में इस तरह के भूल की कोई सम्भावना नहीं है। सांख्ययोग दर्शन में, इसके ठीक विपरीत, हम चेतना के अनुभव निरपेक्ष स्वरूप पर ही जोर देते हैं और व्यावहारिक चेतना तथा अचेतना के मध्य के भेद को बहुत कम महत्व का मानते हैं क्योंकि वे दोनों ही अनुभव निरपेक्ष पुरुष के स्वरूप से समानरूप से दूर, पृथक और अन्य हैं। सांख्ययोगानुसार, मनस, बुद्धि' और 'अहंकार के मानसिक यन्त्र की चेतना केवल एक प्रतिबिम्बित चेतना मात्र ही है। वह स्वयं शुद्ध चेतना या 'चित्' नहीं है, क्योंकि वह जो कि चेतना को कहीं बाहर से ग्रहण करता है, या प्रतिबिम्ब की भाँति अपने पर आरोपित करता है, स्वयं वस्तुत चेतन नहीं हो सकता है। सांख्य योग दर्शन में, व्यावहारिक चेतना और व्यावहारिक पदार्थ का अचेतना में कभी द्वैत नहीं हो सकता है, क्योंकि 'पुरुष' सदैव 'कैवल' स्वरूप होने के कारण कभी भी व्यावहारिक रूप से चेतन नहीं होता है और 'प्रधान' व्यावहारिक रूप से पदार्थ या अचेतना नहीं हैं क्योंकि वह अभी तक भूतों में, बुद्धि में, या अहंकार में रूपांतरित नहीं हुआ है। और पुरुष, चूंकि स्वरूपत ही रूपांतरित होने में नितांत अक्षम और असमर्थ है और सदैव कैवल कैवल' स्वरूप ही रह सकता है इसलिए यह स्वभावत अनुसरित होता है कि व्यावहारिक चेतना और पदार्थ या अचेतना का सम्बन्ध केवल प्रधान से ही हो सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि 'कैवल' तथा 'सत्वमात्र' चेतना की अनुभव निरपेक्ष ऊंचाई से देखते हुए हिन्दुओं ने उच्चतम व्यावहारिक चेतना के क्षेत्र को भी हेय' क्यों माना है।

अद्वैतवेदान्त के दृष्टिकोण से भी लगभग यही कहा जा सकता है। इस दर्शन प्रणाली में भी द्वैत 'मन' और पदार्थ या 'चेतना' और 'अचेतना के मध्य नहीं है क्योंकि पदार्थ या अचेतना का अद्वैतानुसार कोई वास्तविक

अस्तित्व ही नहीं है। अपरिवर्तनशील अपरिणामी, अविभेदित ब्रह्मचेतना या 'कूटस्थ साक्षी' मात्र का ही वास्तविक अस्तित्व है। इस तरह, द्वैतवाद पुनः इस अपरिवर्तनशील, विभेदित और ससीम चेतना के मध्य ही है, अर्थात् अद्वैत दृष्टि से भी, द्वैत 'निष्क्रिय' 'कूटस्थ' और निर्विशेष चित्' तथा उस 'सविशेष और 'क्रियावान' चेतना के मध्य है, जिसके व्यावहारिक अस्तित्व से कि इन्कार नहीं किया जा सकता। अचेतना का यद्यपि कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, तब भी, अनुभव निरपेक्ष दृष्टि विन्दु से, इस दर्शन प्रणाली में भी, व्यावहारिक चेतना को, जो किसी न किसी रूप मे अस्तित्व में है, 'हेय' की स्थिति ही प्रदान की गई है। इस तरह 'हेय बताई गई वस्तु से अर्थ यह है कि उसे पार करना है और उससे मुक्त होना है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैत मे भी व्यावहारिक चेतना का 'पदार्थ' से तादात्म्य कर दिया गया है जो कि, पाश्चात्य प्रत्ययवाद के विपरीत, जहाँ कि व्यावहारिक चेतना को ही 'पदार्थ का अन्य और 'विपरीत' माना गया है, हिन्दू प्रत्ययवाद की सामान्य रुचि रूझाना का प्रतीक है।

हमारा निष्कर्ष यह है कि प्रत्ययवादी हिंदू विचार, यद्यपि अनुभव निरपेक्ष चेतना, व्यावहारिक चेतना तथा अचेतना मे भेद करता है, तथापि उसकी रुचि और वृत्ति अनुभवनिरपेक्ष चेतना को व्यावहारिक चेतना और अचेतना को एक ही मानकर दोनो के विपरीत रखने की है। चेतना के इस हिन्दू विश्लेषण में, यह अति मानवीय ब्रह्म चेतना है, जो कि अन्तिम निष्पत्ति का विन्दु है जहाँ से कि पाश्चात्य प्रत्ययवाद की अनुभवनिरपेक्ष चेतना की धारणा भी केवल मानव परिमित प्रत्ययवाद ही प्रतीत होती है। प्रत्ययवाद का यह रूप जो कि मानव की भाँति मानव की श्रेष्ठतम चेतना से भी अतीत चला जाता है, विशिष्ट रूप से हिन्दू है। इससे ज्ञात होता है कि हिन्दू मस्तिष्क पाश्चात्य मस्तिष्क से कहीं अधिक लचीला और लोचपूर्ण है और उन सम्भावनाओं का भी इस प्रसग में हमें सहज ही स्मरण हो आता है जिनके द्वारा कि विचार के हमारे परिमित पाश्चात्य ढग ने बन्द कर दिए हैं।

पाश्चात्य दर्शन इस मानव केन्द्रित दृष्टिकोण से, कि मनुष्य ही सब वस्तुओं की माप है', प्रारम्भ करके जिस श्रेष्ठतम अनुभवनिरपेक्षवाद पर पहुँचता है, वह अनुभववाद की नींव पर आधारित उसके ही उच्चतम शिखर से अधिक नहीं है। उसकी पहुँच हिन्दू दर्शन की अद्वैत प्रणाली के ब्रह्मज्ञान या सांख्ययोग प्रणाली के 'कैवल्य तक नहीं हो पाई है, जिनका वर्णन कि 'सच्चिदानन्द' की भाँति भी केवल प्रतीकात्मक ही माना गया है। हिंदू दृष्टि

को 'ब्रह्मज्ञान या कैवल्य' के संदर्भ में 'मुक्त' का पद भी पूर्णरूप से उचित प्रतीत नहीं हुआ है क्योंकि इन सभी पदों में अनुभव के जगत् की गंध किसी न किसी रूप में शेष बनी ही रहती है जिसका कि उस अनुभव निरपेक्ष अवस्था में कतई कोई सम्बन्ध नहीं है। पाश्चात्य दर्शन की प्रत्ययवादी प्रणालियों में इस तरह के अनुभव निरपेक्षवाद के अभाव का कारण यह है कि पाश्चात्य विचार के इतिहास में शुद्ध चेतना या चित् को सदा क्षुद्र कार्य ही सौंपा जाता रहा है। प्रधान अभिनय सदा विवेचनात्मक बुद्धि या विचार संकल्पशक्ति या अनुभव ही पूरा करते रहे हैं। पाश्चात्य दर्शन में चेतना को अनुभव का एक ऐसा अंग माना गया है जो कि उससे पृथक किया जा सकता है और अनुभव की अज्ञात उस चेतना और अंशतः अचेतन की भाँति धारणा की गई है। दूसरे शब्दों में, पाश्चात्य दृष्टि से अनुभव को अचेतना में एक ऐसे गहरे समुद्र की भाँति समझा जाता रहा है कि सिर्फ अत्यन्त ऊपरी तल ही चेतना युक्त है। पाश्चात्य दर्शन में अद्वैतवाद के हिन्दू प्रत्ययवाद के समान यह कभी नहीं माना गया है कि यह शुद्ध चेतना है जो कि सम्पूर्ण यथार्थ का अन्तरस्थ स्वरूप है और व्यावहारिक रूप से चेतन, उपचेतन तथा अचेतन 'ब्रह्मज्ञान' या शुद्ध चित् की ढकी हुई या सावरण स्थितियाँ मात्र ही हैं, या सांख्य-योगानुसार यह भी कभी स्वीकृत नहीं किया गया है कि 'पुरुष' की 'केवल' चेतना से अलग, अन्य और भिन्न जो कुछ भी अस्तित्व में है, वह मानव के सच्चे हित में कभी नहीं हो सकता है।

• •

विशिष्ट शब्दों की अनुक्रमणिका

को 'ब्रह्मज्ञान' या 'कवल्य' के सदभ में 'मुक्त' का पद भी पूर्णरूप से उचित प्रतीत नहीं हुआ है क्योंकि इन सभी पदों मे अनुभव के जगत् की गन्ध किसी न किसी रूप म शेष बनी ही रहती है जिसका कि उस अनुभव निरपेक्ष अवस्था से कतई काई सम्बन्ध नहीं है। पाश्चात्य दशन की प्रत्ययवादी प्रणालियों में इस तरह के अनुभव निरपेक्षवाद के अभाव का कारण यह है कि पाश्चात्य विचार के इतिहास म शुद्ध चेतना या चित् को सदा क्षुद्र कार्य ही सौंपा जाता रहा है। प्रधान अभिनय सदा विवेचनात्मक बुद्धि या विचार, सकल्पशक्ति या अनुभव ही पूरा करते रहे हैं। पाश्चात्य दर्शन में चेतना को अनुभव का एक ऐसा अग माना गया है जो कि उससे पृथक किया जा सकता है और अनुभव की अशत उस चेतना और अंशत अचेतन की भाँति धारणा की गई है। दूसरे शब्दो में, पाश्चात्य दृष्टि से अनुभव को अचेतना के एक ऐसे गहरे समुद्र की भाँति समझा जाता रहा है कि सिफ अत्यन्त ऊपरी तल ही चेतना मुक्त है। पाश्चात्य दशन में अद्वैतवाद के हिन्दू प्रत्ययवाद के समान यह कभी नहीं माना गया है कि यह शुद्ध चेतना है जो कि सम्पूर्ण यथाथ का अन्तरस्थ स्वरूप है और व्यावहारिक रूप से चेतन, उपचेतन तथा अचेतन 'ब्रह्मज्ञान' या शुद्ध चित् की ढकी हुई या सावरण स्थितियाँ मात्र ही हैं, या सांख्य-योगानुसार यह भी कभी स्वीकृत नहीं किया गया है कि 'पुरुष' की 'केवल' चेतना से अलग, अन्य और भिन्न जो कुछ भी अस्तित्व में है, वह मानव के म को छिन में कभी नहीं हो सकता है।

● ●

विशिष्ट शब्दों की अनुक्रमणिका